प्राप्तिस्थान
मन्त्री
श्री तिलोक रत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पाथर्डी (अहमदनगर)

प्रथम बार पाँच हजार

मुद्रक—
मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस
चौड़ा रास्ता,
जयपुर

प्राक्कथन

इतिहास बीती हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओ और चली आती हुई विशिष्ट परम्पराओ का यथार्थ चित्रण है। कहना न होगा कि व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को अधिक महत्त्व देने के कारण भारतीय परम्परा मे इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति नही रही। इतिहास लिखना तो दूर रहा, इतिहास लेखन के विविध स्रोत भी यहा सुरक्षित नही रहे। अपने बारे मे किसी आचार्य, मनीषी या दार्शनिक का कुछ कहना बडप्पन के विरुद्ध माना गया। यही कारण है कि राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्व के बारे मे भी हम बहुत कम जान सके हैं और जो कुछ जानते भी हैं, वह विसगतियो से खाली नही। वैसे इतिहास-लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, बीच मे यह परम्परा कुछ लुप्तसी हो गई। सतरहवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन का व्यवस्थित कार्य मुगलो ने पुन. आरम्भ किया। स्वयं बादशाह अकबर ने अपने राज्य में इतिहास लेखन का एक अलग ही विभाग खोला। तभी से अन्य रियासतो एवं स्वतंत्र राज्यो में प्रतिस्पर्धा की भावना से इतिहास लेखन के फुट-प्रयत्न होते रहे। मुगल शासक इतिहास प्रेमी थे। वे स्वयं "नामा" संज्ञक ग्रंथो के रूप मे अपना आत्म-चरित्र लिखा करते थे। इन्हीं को आधार बनाकर बाद में मध्यकालीन इतिहास लिखे गये।

इस प्रकार जो इतिहास लिखे जाते थे, उनमे राजनैतिक परिवर्तनो और घटनाओ को ही प्रमुखता दी जाती थी। सामाजिक परिवर्तनो और धार्मिक आन्दोलनो को दृष्टि मे रखकर सास्कृतिक इतिहास-लेखन का कार्य प्राय· उपेक्षित ही रहा। किसी भी राष्ट्र का सच्चा इतिहास वहाँ के शासको की कार्य-प्रणालियो तक ही सीमित नही है। उसमे सामान्य जनता

की मनोवृत्तियों का प्रतिपादन भी अपेक्षित है। विभिन्न मोर्चों से पड़ने वाले प्रभावों और उनको आत्मसात् करने की प्राणशक्ति का विवेचन भी अभीष्ट है। क्योंकि इतिहास केवलमात्र गड़े हुए मुर्दों को उखाड़ने का कार्य नहीं है। उसके अन्तस में भावी समाज-रचना की कई निर्माणकारी प्रवृत्तियाँ भी काम करती है। स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा में कई प्रयत्न हुए हैं।

संस्कृति के निर्माण एवं विकास में धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कर्ममूलक संस्कृति और पुरुषार्थवाद की प्रतिष्ठा में जैन-धर्म की देन उल्लेखनीय है। जैनधर्म के सिद्धान्त विज्ञान सम्मत होने के कारण सार्वजनीन हैं, पर ऐतिहासिक क्रम में उनको पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं मिली। जैन-इतिहास का सर्वमान्य रूप भी सामने नहीं आया। इस दिशा में जो भी प्रयत्न हुए, वे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति और मतवाद के आग्रह से अछूते न रह सके। यह परम प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि विदुषी सती श्री सुमतिकुंवर जी म० की सुयोग्य शिष्या श्री चन्दनकुमारी जी म. ने प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री का संकलन बहुत ही सावधानी से किया है।

यह सम्पूर्ण इतिहास २४६ पृष्ठों के आठ प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम प्रकरण (पृष्ठ १ से १६) में युगादिदेव भगवान् ऋषभदेव और उनके पूर्व के भारत का सामान्य-परिचय दिया गया है। द्वितीय प्रकरण (पृ० १७ से ४६) में ऋषभदेव को छोड़कर अवशिष्ट २३ तीर्थङ्करों की पिता-माता, जन्म एवं निर्वाण स्थान के क्रम से परिचय-तालिका देकर पाच तीर्थंकरों-शान्तिनाथ, मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी-का विशेष परिचय दिया गया है। इसी प्रकरण मे महावीर स्वामी की शिष्य-परम्परा के क्रम मे होने वाले गौतम-गणधर, सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी, शय्यभवाचार्य, यशोभद्र और संभूतिविजय का संक्षिप्त परिचय है। अब तक श्रमण-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी। तृतीय प्रकरण (४७ से ६८) मे अन्तिम श्रुतकेवली

भद्रबाहु स्वामी से लेकर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक की परम्परा का वर्णन किया है। चतुर्थ प्रकरण (पृ० ६६ से ८६) मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर से लेकर आचार्य हेमचन्द्र जी तक का सप्रमाण वर्णन दिया है। पाँचवें प्रकरण (पृ० ८७ से ११०) मे लोकाशाह की धार्मिक-क्राति, लोकागच्छ की स्थापना, उसकी समाचारी, उसकी परम्परा आदि का वर्णन दिया गया है। छठे प्रकरण (पृ० १११ से १६५) मे धार्मिक विकृति को दूर करने वाले पाँच क्रियोद्धारको—पूज्य श्री जीवराजजी म०, पूज्य श्री लवजीऋषिजी म०, पूज्य श्री धर्मसिहजी म०, पूज्य श्री धर्मदासजी म०, और पूज्य श्री हरजीऋषिजी म० से सम्बन्धित है। सातवें प्रकरण (पृ० १६६ से २२६) में इन पच क्रियोद्धारको की परम्परा मे होने वाले अधुनातन प्रमुख सन्तो का परिचय दिया गया है। अन्तिम आठवें प्रकरण (पृ० २२७ से २४६) मे अजमेर सम्मेलन से लेकर वर्तमान श्रमण संघ की स्थापना आदि का आधुनिक समय तक का वर्णन किया गया है।

यह ग्रथ श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी के सिद्धान्त विशारद के स्तर वाले छात्रों के लिए तैयार किया गया है। स्तरीय पाठ्य-पुस्तक के अनुरूप ही इसमें भाव-भाषा का सौष्ठव, प्रवाह और प्राजल रूप देखने को मिलता है। आचार्यों के परिचय-क्रम मे उनके वश माता-पिता, दीक्षा, साधना-काल, स्वर्गवास, कुल आयु, दीक्षा-आयु, आचार्य-काल एवं सयमी जीवन की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख किया गया है। स्पष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक प्रकरण को कई उपशीर्षको मे विभक्त किया गया है।

ग्रथ का नामकरण 'हमारा इतिहास, व्यापक परिवेश का सूचक है। इसमें अपने आपको जानने, पहचानने एवं पूर्वजो के उदात्त-आदर्शों को आत्मसात् करने की ध्वनि है। इसको पढकर अन्य धर्मावलम्बी भी जैन-धर्म की ऐतिहासिक, सास्कृतिक एवं दार्शनिक परम्परा से परिचित हो

सकते हैं। जैन-धर्मानुयायियो के लिए तो यह अपना इतिहास है ही।

इतिहास-लेखन के लिए तटस्थ-वृत्ति अनिवार्य शर्त है। पर इस शर्त का पूरा होना असंभव तो नही, कठिन अवश्य है। जब व्यावसायिक-दृष्टि से इतिहास लिखा जाता है, तब इतिहासकार निरपेक्ष बनकर नही रह सकता। यह सौभाग्य की बात है कि इस ग्रन्थ की लेखिका स्वय एक विदुषी सती हैं। वे सासारिक प्रपचो से दूर एव व्यावसायिक बुद्धि से परे हैं। इसीलिए इस ग्र थ मे विवादास्पद तथ्यो का सामान्य रूप से उल्लेख तो किया गया है, पर उसके खण्डन-मण्डन मे व्यर्थ का विवाद नही पैदा किया गया है। समन्वयात्मक ढग से अपनी बात कह दी गई है।

जैन सत एवं सतियो का दैनन्दिन कार्य है, स्वपर कल्याण में निरत रहना। तथ्य निरूपण के साथ-साथ जो उपदेश देने की वृत्ति कही-कही दिखाई पडती है, वह ऐतिहासिक तथ्यो को और भी अधिक चमत्कृत करती है। प्रथम प्रकरण मे ब्राह्मी सुन्दरी के प्रतिबोध मे बाहुबलि के मान-भग होने का जो प्रसग वर्णित है, ठीक उसके बाद विनय के माहात्म्य के सम्बन्ध मे एक पूरा अनुच्छेद लिखा गया है, जो इतिहास के इसी तथ्य को स्पष्ट करता है।

प्रस्तुत ग्रथ का सम्पादन तथा व्यवस्थित लेखन-कार्य आचार्य श्री अमृतकुमार जी ने किया है। यही कारण है कि इतिहास जैसा अतीत का विषय बडा ही हृदयग्राही और सरस होकर पाठक के सन्मुख उपस्थित हो सका है। सम्पादन-कार्य जितनी कुशलता से किया गया है, यदि प्रूफ सशोधन का भी ऐसा ही ध्यान रखा जाता तो सभव है ग्रन्थ में रही हुई अशुद्धिया न रह पाती। फिर भी ये अशुद्धिया ग्रन्थ के महत्त्व को कम नही करती। इतिहास जैसे नीरस विषय को सरस बनाकर प्रस्तुत करना

साधारण काम नही है। जिसमे अपार भाषा-क्षमता, तथ्यो की सूक्ष्म पकड और अन्तरंग में पैठने की अद्भुत शक्ति होती है वही इस दुष्कर कार्य मे सफल हो सकता है, कहना न होगा कि सम्पादक महोदय को इस गुरुतर कार्य मे पूर्ण सफलता मिली है।

इतिहास लेखन में दो कठिनाइया सदा सामने रहती हैं– एक तो इतिहास की विलुप्त परम्पराओ को जोडकर उन्हे सर्वमान्य बना देने की तडप और दूसरे छात्रो को सहजभाव से इतिहास जैसे गूढ विषय का परिचय करा देने का उत्साह। दोनो की कहाँ सगति ? एक मे शोध मस्तिष्क को बार-बार कुरेदने की आवश्यकता और दूसरे मे गहन तथा जटिल विषय को सरल-सुगम बनाकर प्रस्तुत करने की समस्या। पर मुझे यह कहते हुए गौरव का अनुभव होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनो भिन्न लक्षित होने वाले बिन्दुओ को बडी तत्परता और सजगता के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे एक ओर शोध मस्तिष्क की अन्तरग पकड है तो दूसरी ओर कथाकार की सहज वृत्ति।

आशा है, विद्वानो और छात्रो को यह ग्रथ परितोषकर सिद्ध होगा।

२७ अक्तूबर, १६६४
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ० नरेन्द्र भानावत
एम. ए पी. एच डी
साहित्य रत्न,



अपनी बात

श्रमण संस्कृति का इतिहास, त्याग और तपस्या का इतिहास है। यह संस्कृति आत्म-विकास की संस्कृति है। अतीत के अनंतकाल से यह संस्कृति समस्त प्राणीजगत् को आत्म-कल्याण का सन्देश देती आ रही है। श्रमण संस्कृति, आत्म-श्रम पर आधारित है। जो प्राणी जितना भी वास्तविक आत्म-श्रम करता है, उसका उतना ही आत्म-विकास हो जाता है। हमारा-श्रमण इतिहास इस सत्य का स्पष्ट प्रमाण है। इस इतिहास के अध्ययन से जीवन को विकास की प्रेरणा मिलती है, जीवन को गति मिलती है। अत जीवन-निर्माण और विकास के लिए हमे अपनी संस्कृति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रस्तुत इतिहास इस उद्देश्य की पूर्ति का एक प्रारंभिक कदम है।

'हमारा इतिहास' की मूल सामग्री—परमविदुषी महासती श्री—सुमति-कुंवर जी महाराज की विदुषी शिष्या श्री चन्दनकुमारी जी, महाराज ने संकलित की है। इसके मूल में उनकी अपनी प्रेरणा है और उनका अपना संकलन श्रम है। यह संकलन गत चैत्र वैशाख मास में मुझे तथा जैन जगत् के दार्शनिक विद्वान् कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज को आमूल-चूल दिखाया गया। परिणामत निर्णय हुआ कि इसे स्वतंत्र ऐतिहासिक रूप दिया जाय। तभी यह संकलन-श्रम सफल होगा। श्रद्धेय आचार्य प्रवर-परमाराध्य श्री श्री १००८ श्री आनन्दऋषि जी म० की कृपा से यह कार्य मुझे सौंपा गया। सम्पादन तथा लेखन-कार्य आरम्भ हुआ और सीमित काल में कार्य समाप्त हो गया।

प्रस्तुत इतिहास में पूर्व-प्रकाशित अनेक इतिहासो से सहायता ली गई है। विश्वधर्म सम्मेलन के प्रेरक पण्डित श्री सुशीलकुमार जी महाराज के

इतिहास का सहयोग विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुआ है, इसके लिए हम उनके विशेष रूप से आभारी हैं। जहां तक हो सका है स्थानकवासी श्रमण-परम्परा के सभी तथ्यो को इतिहास में लेने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी अल्पज्ञ होने के नाते कुछ रह गया हो अथवा मान्यता–विरुद्ध लिखा गया हो तो हम करवद्ध क्षमाप्रार्थी है।

प्रूफ सशोधन की असुविधा के कारण यत्र–तत्र कुछ भूले रह गई हैं। हमें आशा है गुणग्राही पाठक उन्हे सुधार कर पढनें का प्रयत्न करेगे।

इतिहास सम्पादन और लेखन का कार्य वडा ही दुरूह होता उसे पूर्ण करना मुझ जैसे व्यक्ति के वश की वात नही थी। फिर भी आचार्य श्री जी की महती कृपा के सहारे कार्य सानन्द सम्पन्न हो गया। अत: यह स्पष्ट है कि इसमें मेरा कुछ भी नही है। इसमें आचार्य श्री जी की प्रेरणा है, उन्ही का आशीर्वाद है और उन्हो का अथक सहयोग है। अत॰ सव कुछ उन्ही का है और फिर वर्तमान स्थानकवासी श्रमण सघ के वे ही एक मात्र अधिनायक है। अत. उन्ही की वस्तु उन्ही के श्री चरणों में अर्पित करते हुए मुझे अत्यत आनन्द हो रहा हैं।

त्वदीय वस्तु आचार्य ! तुभ्यमेव समर्पये।

एस् एस्. जैन सुबोध कालेज
जयपुर
९-११-६४

विनीत
आ. अमृतकुमार

प्रकाशकीय

श्री तिलोकरत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी प्रतिष्ठान अपने आरम्भ काल से ही सत्साहित्य के प्रकाशन का प्रयत्न करता चला आरहा है। अबतक उसके सैंकडो प्रकाशन जनता में आ चुके है। लाखो की संख्या में जनता उनका लाभ उठा चुकी है। धार्मिक वृत्ति की संस्था होने के कारण यह प्रतिष्ठान सदा से धर्मानुरागी बन्धुओ में सत् साहित्य का प्रसार तथा प्रचार करती आरही है। प्रस्तुत ऐतिहासिक ग्रथ " हमारा इतिहास " भी इसी सस्था के द्वारा प्रकाशित करते हुए हमें अत्यत हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमें आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि इतिहासप्रेमी जनता को इस परिश्रम साध्य ग्रथ के पठन-पाठन से अवश्य ही सन्तोष होगा। अपने स्थानकवासी समाज में अबतक अनेक ऐतिहासिक ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं। उनसे किसी न किसी प्रकार समाज को कुछ न कुछ मार्गदर्शन अवश्य ही मिला है फिर भी कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य हैं जो आज तक प्रकाश में नही आ पाये हैं। इस ग्रथ में उन्हे यथासाध्य स्थान देने का सत् प्रयत्न किया गया है। ग्रथ की मूल निर्देशिका महासती परम पण्डिता श्री सुमति कुवरजी महाराज की सुशिष्या महासती श्री चन्दन कुमारी जी महाराज तथा सम्पादक आचार्य अमृत कुमार जी दोनो ही धन्यवाद के पात्र हैं। जिनके परिश्रम से यह ग्रथ हम समाज के सन्मुख प्रस्तुत करने में सफल हो सके हैं।

दिनाक ३-१२-६२ गुरुवार के दिन घाटकोपर (बम्बई) में श्रमण सघीय परमाराध्य आचार्य श्री १००८ श्री आनन्दऋषिजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी परमोपकारिणी महासती श्री रम्भाकुवरजी महाराज, पण्डिता महासती श्री सुमतिकुवरजी महाराज के नेश्राय में लोनावला निवासी श्री भेरूलालजी गाधी की सुपुत्री वैराग्यवती बालब्रह्मचारिणी श्री विमलाकुमारी (सुयशाकुमारीजी म) तथा राजणगाव (पूना) निवासी श्रीमान् रूपचन्द जी नाहर की पुत्रवधु वैराग्यवती श्री कुसुम कुमारी (श्रद्धा कुमारी जी म) तथा विदुषी महासती जी श्री अमृत कुवर जी महाराज के नेश्राय में बम्बई निवासी श्रीमान् हीराचन्द देवचन्द जी की पुत्रवधु वैराग्यवती श्री लीलाबहन

(सुदर्शना कुमारी जी म) इन तीनो रत्नत्रय-साधिकाओ की पवित्र दीक्षा प्रसग की स्मृति में ग्रथ प्रकाशनार्थ कुछ आर्थिक सहयोग दिया गया था। इसी प्रकार देहलीनिवासी-वर्त्तमाननिवास बम्बई श्रीमती हिरणमाला जोती-प्रसाद जैन की तरफसे इतिहास प्रकाशन के लिये १५०० रुपये परीक्षा बोर्ड पाथर्डी की शाखा (बम्बई) में प्रदान किये गये। दोनो द्रव्य राशियो को सम्मिलित करके इस इतिहास ग्रन्थ को प्रकाशित किया गया है, एतदर्थ उक्त दीक्षार्थिनियो के तीनो परिवारो एव उदारहृदया श्रीमती हिरण-मालाबाई जी को धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। दीक्षा के इस शुभ प्रसग पर मत्री मुनि श्री हीरालाल जी म , स्थविर मुनि श्री डूंगरशीजी म० विनयसंपन्ना महासतीजी श्री लीलाबाई जी म. तथा विदुषी श्री शारदाबाईजी म० आदि ६७ मुनिराज और महासतिया जी उपस्थित थी। साधु-साध्वी श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध श्री सघ की विशाल उपस्थिति में यह दीक्षा रूप मगलकार्य सानन्द सपन्न हुआ है। यह निवेदन करते हुए प्रमोद होता है।

प्रस्तुत इतिहास के लेखन कार्य में जयपुर में विराजमान कविवर्य उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी म०, भोपालगढ में चातुर्मासस्थित उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म०, विजयनगर में विराजमान पवर्तक श्री पन्नालाल जी म०, कोटडा (ब्यावर) में विराजमान प मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज ब्यावर में चातुर्मासस्थित प्रवर्तक प० मुनि श्री अम्बालालजी महाराज पीपाड में विराजित उपप्रवर्तक प० मुनि श्री पुष्कर मुनि जी म० तथा भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी म० आदि सन्त पुरुषो की सेवा में उपस्थित होकर ऐतिहासिक सामग्री के विषय में अनेक उपयोगी परामर्श लिए गए हैं, एत-दर्थ इन सभी महापुरुषो का भी हम शतश उपकार मानते हैं।

मन्त्री—

श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी

समर्पण

इन परिमित शब्दों में अपरिमित श्रद्धा संजोकर
अपने पूज्य तपोधन आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी
महाराज के चरणो में इस लघुकृतिको
सादर समर्पण करती हूँ–

विनीताणु
साध्वी चन्दना

विषय-सूची

प्रकरण सातवाँ

श्री वीतरागाय नम

हमारा इतिहास

प्रकरण-पहला

इतिहास क्या है

इतिहास अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह अतीत की स्मृतियो को वर्तमान मे प्रस्तुत करता है। उसे न तो किसी के प्रति मोह होता है और न किसी के प्रति घृणा होती है। जो जैसा है उसे उसी रूप मे प्रस्तुत करना इतिहास का मुख्य कार्य है। इतिहास शब्द का "ऐसा ही था" यह, अर्थ इसीलिए युक्ति सगत माना गया है। अतीत की कडियो को हमारे जीवन के साथ जोड़ना ही इतिहास का मुख्य उद्देश्य है। आज हमारे जीवन मे जो भी ज्ञान-विज्ञान आदि के सद्गुण पाये जाते हैं वे सब अतीत के महापुरुषो की ही अनुपम देन है। पूर्वज पुरुषो के आचार-विचार-संस्कार तथा सद्गुणो से ही हमारे जीवन को उन्नति की प्रेरणा मिलती है। संस्कार परम्परा की यह कडी युगो-युगो से हमारी एक पीढी को एक दूसरे के साथ जोडती चली आ रही है। पूर्वज परम्परा का ज्ञान मनुष्य को भविष्य निर्माण की

सत्प्रेरणा प्रदान करता है। हमारा इतिहास, हमारी सभ्यता, और हमारी संस्कृति का अक्षयकोष है।

हमारी संस्कृति

भारत सदा से संस्कृतियो की रंगस्थली रहा है। इन सभी संस्कृतियो मे श्रमण संस्कृति का अपना एक प्रमुख स्थान है। असत् पर सत् की विजय श्रमण संस्कृति का लक्ष्य है। श्रमण संस्कृति--अध्यात्म-संस्कृति है। यही एक ऐसी संस्कृति है जो मानव को पशुता की ओर जाने से रोकती है, और उसे मानवता की ओर ले जाती है। अध्यात्म संस्कृति का मूलस्वर त्याग है। भौतिक संस्कृति सब कुछ बटोर लेने मे सफलता मानती है परन्तु अध्यात्म-संस्कृति सब कुछ त्यागकर अकिंचन बनने मे जीवन की सफलता मानती है। भारतीय अध्यात्म संस्कृति की आधारशिला पर ही—सभ्यता और समाज का महाप्रसाद खड़ा है। इस अध्यात्म संस्कृति के उन्नायक श्रमण-महापुरुष सजग प्रहरी के रूप में माने गये हैं क्योंकि अध्यात्म श्रम के द्वारा ही वे अपने जीवन का निर्माण करते हैं। वे ही इस संस्कृति के संरक्षक, उद्धारक तथा साहसिक धर्म नेता हैं। हमारा प्राचीन इतिहास इन महापुरुषो की गौरव गाथाओ से भरा पड़ा है। भारत का संत समाज सदासदा से अपने त्याग, तप संयम आदि गुणो मे अग्रगी रहा है। वह समाज अथवा सम्प्रदाय के तुच्छ बन्धनों मे कभी अवरुद्ध नही रहा है। युगो-युगो मे उसने अपने समुज्ज्वल आलोक से समस्त विश्व को आलोकित किया है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का सजीव प्रमाण है। अध्यात्म संस्कृति के उत्थान मे श्रमगो के समान ही हमारी विदुषी श्रमणी वर्ग का भी विशेष हाथ रहा है।

भारतवर्ष

भारतवर्ष हमारी जन्मभूमि है। जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक माना गया है। 'भारत' के नामकरण के विषय मे ऐतिहासिक विद्वान् एकमत नही हैं। इस विचार से तो सभी सहमत है कि चक्रवर्ती भरत के नाम से इस देश का 'भारत' नामकरण हुआ है। जैन परम्परा मे १२ चक्रवर्ती माने गये हैं, उनमे भरत चक्रवर्ती का नाम सर्वप्रथम आता है। वैदिक परम्परा मे वे आठवे अवतार भगवान् ऋषभदेव के पुत्र थे। ऐसी दोनो ही परम्पराओ की मान्यता है। वैदिक वाङ्मय मे ऋषभदेव पुत्र भरत को चक्रवर्ती नही माना गया है। उनके यहा दुष्यन्त पुत्र भरत को पाचवा चक्रवर्ती माना गया है। पुराण साहित्य मे तो इस विषय के अनेक प्रमाण मिलते है, जिनमे ऋषभ पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का भारतवर्ष नाम पड़ा ऐसा स्पष्ट उल्लेख है।

श्रीमद् भागवत् पुराण के अनुसार दुष्यन्त पुत्र भरत पुरु की १७वीं पीढी मे हुए है। वैदिक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुसार पुरु के पूर्व भी इस देश का नाम भारतवर्ष था। पुरु चन्द्रवंश परम्परा मे हुए हैं। ऋषभदेव पुत्र भरत पुरु से सहस्त्रों वर्ष पूर्व हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋषभदेव पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

आधुनिक अनेक ऐतिहासिक विद्वानो ने भी इसी मत का समर्थन किया है। काशी विश्व विद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री गंगाप्रसाद एम. ए ने यही स्वीकार किया है कि ऋषियो ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था। प्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री रामधारी-

सिंह दिनकर ने भी स्पष्ट लिखा है कि भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। बुद्ध पूर्व के भारतीय इतिहास के विद्वान् लेखक रावराजा डा० श्याम-विहारी मिश्र, रायबहादुर डी लिट् तथा रायबहादुर पं० शुकदेव विहारी मिश्र ने भी इसी मत की पुष्टि की है। अतः समुपलब्ध ऐतिहासिक आधारों पर यही मत उचित लगता है कि भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

भारत और यह विश्व

साधारणतया लोग भारत को एक कृषि प्रधान देश मानते हैं, किन्तु इससे भी अधिक भारत की एक प्रधानता है वह है इसकी ऋषि प्रधानता। आज तक जितने भी महापुरुष, ऋषिमुनि महात्मा-भारत ने समूचे ससार को दिये हैं, इतने अन्य किसी भी देश ने नही दिये हैं। यही कारण है कि भारत को विश्व दर्शन की आत्मा माना गया है। विश्व क्या है ? उसकी स्थिति क्या है ? ऐसे-ऐसे अनेक महत्व पूर्ण विषयो पर जितना सुन्दर तथा विशद् विवेचन भारतीय दर्शन ने दिया है ऐसा अन्य किसी दर्शन ने नही दिया है। भारत की दृष्टि सदा ही समन्वयात्मक रही है।

कुछ भारतीय दर्शनों ने विश्व की उत्पत्ति और विलय के विषय मे अपने विचार व्यक्त किये हैं। जैन दर्शन के विचार इस विषय मे भिन्न रहे हैं। वह कहता है कि यह सम्पूर्ण विश्व अनादि अनंत है। इसका कर्त्ता, धर्त्ता तथा संहर्ता कोई नही है। यह सारा संसार जीव और अजीव इन दो मुख्य तत्वो का खेल है। बुद्धि-वादी लोग इस विषय मे कुछ भिन्न विचार रखते हैं। उनके मत मे इस जगत् का कर्ता ईश्वर है। धर्ता विष्णु है और संहर्ता शिव है।

ऐसा मानने से ईश्वर के अस्तित्व मे अनेक दोप आ जाते है। जिनका निराकरण कठिन ही नही असंभव सा हो जाता है जैन दर्शन ने जो कुछ भी कहा है केवल बुद्धि के वल पर ही नही अपितु–सर्वज्ञो की दृष्टि से कहा है। सर्वज्ञ भगवान् ने जैसा अपने ज्ञान में देखा और कहा है, वही सिद्धान्त जैन दर्शन का मान्य सिद्धान्त है। इसी आधार पर जैन–धर्म ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता नही मानता ! यह अनादि अनंत विश्व अनंतकाल से ही है और अनत काल तक रहेगा। यह न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा। विश्वगत पदार्थो के केवल आकार–प्रकार वदलते हैं किन्तु वे सर्वथा नष्ट नही होते। जो अनादि है वह अनंत कालतक रहेगा। उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता। जिसकी आदि होती है उसका अंत होता है। यह षट् द्रव्य मय जगत् षट्कालचक्रो मे उत्थान और पतन के चक्कर काटता रहता है विकाश और ह्रास दोनो ही स्थितिया कालचक्र के अनुसार आती है।

कालचक्र

काल अनादि अनन्त है। वह दो भागो मे विभक्त है व्यवहार काल और निश्चय काल। व्यवहार काल का सबसे छोटा काल "समय" है ऐसे असंख्य समयो की एक "अवलिका" होती है। संख्याता अवलिकाओ का "मुहूर्त" होता है। तीस मुहूर्तों का एक "दिन" होता है पन्द्रह दिनो का एक "पक्ष" होता है दो पक्षो का एक "मास" होता है वारह मासो का एक "वर्ष" होता है। ऐसे ही असंख्यात वर्षों का एका 'पल्योपम' होता है। दश कोडा कोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता हैं। इसी के वरावर अव-सर्पिणी काल होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनो से एक

कालचक्र होता है ऐसे अनंत काल चक्र बीतने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है।

उत्सर्पिणी काल मे जीवो के शरीर-बल तथा सुखों की वृद्धि होती है। अवसर्पिणी काल मे क्रमश. सभी सुख साधनो मे कमी आती है। उत्सर्पिणी काल के छः भेद इस प्रकार हैं.—

(१) दु खम–दु खम (२) दु.खम (३) दुःखम-सुखम (४) सुखम-दु खम (५) सुखम (६) सुखम सुखम।

अवसर्पिणी काल के छः भेद ये है– (१) सुखम सुखम (२) सुखम (३) सुखम दु खम (४) दु खम सुखम (५) दु खम (६) दु खम दु.खम।

आज तक अनन्त काल व्यतीत हो चुके हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् का कथन है। हमारे इस प्रस्तुत इतिहास काल का प्रारंभ अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग से होता है। इससे पूर्व के तीनो आरो मे पूर्ण भोग भूमि थी। भगवान् ऋषभदेव मे कर्म भूमि काल का आरम्भ होता है।

भगवान् ऋषभदेव से पूर्व का भारतवर्ष

जैन धर्म के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का समय सुखम् दुखम् नामक तीसरा आरा माना गया है। इसे युगलियो का काल भी कहते हैं।

युगलियो के समय मे सामाजिक व्यवस्था नही थी, कुटुम्ब रचना नही थी। राजा और प्रजा का व्यवहार भी नही था। लोग प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते थे। वह समय केवल पुण्य के

उपभोग का समय था। उद्योग-व्यवसाय तथा व्यापार आदि मे जनता सर्वथा अनभिज्ञ थी। कल्पवृक्षो से सबकी इच्छाये पूर्ण होती थी। युगल उत्पन्न होते थे और दोनो हो समय पाकर दम्पत्ति के रूप मे परिणत हो जाते थे। उन दोनो की मृत्यु भी एक साथ ही होती थी। उनके जीवन मे कोई संघर्ष नही था। जीवन सब प्रकार से सुखी था, पर उसमे कोई विशेष उद्देश्य नही था। न शिक्षा थी और न दीक्षा थी। सबका जीवन उन्मुक्त था।

भगवान् ऋषभदेव का आगमन

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का बहुतसा समय बीतने तक लोगो का जीवन कल्पवृक्षाश्रित चलता है। यह भोग भूमि काल कहलाता है। क्योकि यह भोग प्रधान समय होता है। अपने जीवन निर्वाह के लिए मनुष्यो को किसी भी प्रकार का कोई उद्योग नही करना पडता था। धीरे-धीरे इस आरे का समाप्ति काल ज्यो-ज्यो समीप होता जाता है, उन्ही दिनो मे भरत क्षेत्र में पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होते है। कल्पवृक्षो की संख्या तथा उनकी फल देने की शक्ति दिनोदिन घटती जाती है। भोग्य वस्तुओ की कमी होती जाती है और उपभोक्ताओं की सख्या बढती जाती है। इच्छाओ की वृद्धि से परस्पर झगडे होने लगते है। जीवन मे अनेक समस्याओ का जन्म हो जाता है। जीवन के समाधान के लिए किसी मार्ग दर्शक की आवश्यकता अनुभव होने लगती है।

उसी समय पन्द्रह कुलकरो मे से सर्वप्रथम के पांच कुलकर अपने-अपने समय में व्यवस्था में सुधार का प्रयत्न करते हैं। इनके समय मे केवल 'हा' कह देने मात्र को ही जनता अपने लिए दण्ड समझती थी। ('हा' कार का अर्थ यहा खेद से लिया गया है)

कुछ काल बीतने पर जब 'हाकार' व्यवस्था का प्रभाव कम हो जाता है तो मध्य के पाच कुलकर अपने-अपने समय में 'माकार' के दण्ड का विधान करते हैं। माकार का अर्थ है 'ऐसा काम मत करो'। काल के प्रभाव से जब माकार से भी काम नही चलता तो अन्त मे पाच कुलकर 'धिक्कार' शब्द से दण्ड व्यवस्था चलाते है। इस प्रकार ये कुलकर ही सर्व प्रथम मनुष्यो की कठिनाइयो को दूर करके सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात करते हैं।

इस कुलकर परम्परा मे चौदहवे कुलकर श्री नाभिराय हुए हैं। इनकी पत्नि का नाम मरूदेवी था। इन्ही के यहा चैत्र कृष्णा अष्टमी को भरत क्षेत्र के प्रथम राजा, भगवान् श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ था। भगवान् का बाल्यकाल युगलियो के बीच व्यतीत हुआ था। यद्यपि इस समय कुछ-कुछ सामाजिक व्यवस्था चल पडी थी, किन्तु उसमे कोई विशेष महत्व नही था। अब भी लोग जैसे-तैसे कल्पवृक्षो से ही अपना काम चलाते थे। कठिनाइयां अधिक अवश्य हो चुकी थी। इसलिए किसी को भी कोई इच्छा पूर्णरूप से पूर्ण नही हो पाती थी। नाभिराजा ने अब तक स्वयं जो भी कुछ व्यवस्था स्थापित की थी, उससे वे अब मुक्त होना चाहते थे। भरत क्षेत्र की समस्त जनता किसी युग प्रवर्तक की ओर आख बिछाये बैठी थी। सबको एक सफल कर्मयोगी मार्ग द्रष्टा की आवश्यकता थी।

आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है—इस लोकोक्ति के अनुसार नाभि राजा ने जनता की भलाई के लिए अपना उत्तर-दायित्व अपने सुयोग्य पुत्र ऋषभदेव को सौंप दिया। तीर्थंकर भगवान् जन्म मे ही तीन ज्ञान लेकर आते है। उसी के अनुसार भगवान् ऋषभदेव भी जन्म से ही तीन ज्ञानो के धारक थे।

उन्होने अपने ज्ञान बल से जनता की समस्याओ को देखा और स्थिति को सुधारने का मन मे दृढ संकल्प किया ।

सर्वप्रथम भगवान् ने जनता को असि-मसि और कसि इन तीन आवश्यक शिक्षाओ से शिक्षित किया । लोगो को पाक-शास्त्र की शिक्षा दी । उन्हे गृह निर्माण कला समझाई । अच्छे नगरो का निर्माण कैसे होता है ? यह भी उनकी शिक्षा मे सम्मिलित था । भगवान् के तत्वावधान मे भारत की सर्वप्रथम नगरी 'विनीता' का निर्माण हुआ । यही नगरी आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

भगवान् ने सबको कर्म अर्थात् पुरुषार्थ का उपदेश दिया उन्होने लोगो को समझाया कि प्रकृति के सहारे मनुष्य का जीवन अधिक काल तक नही चल सकता । अब उसे पुरुषार्थ करना ही पडेगा । तभी उसका जीवन सुखी बन सकेगा । निष्क्रियता जीवन मे सबसे बडा पाप है । हाथ पर हाथ रखकर बैठने से अब काम नही चलेगा । चलने से ही लक्ष्य तक पहुँच सकोगे । सभी शिक्षाओ मे भगवान् का एक ही उद्घोष था –मानव ! उठ ! अपने कर्तव्य का पालन कर ! प्रमाद को जीवन से बाहर निकाल दे ।

उस समय समाज मे जो भाई-बहिन से दाम्पत्य जीवन की प्रथा चल रही थी उसे भगवान् ने समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर एक व्यवस्थित वैवाहिक व्यवस्था प्रदान की । मानव के आदि परिष्कर्ता होने के कारण ही भगवान् का आदि-नाथ नाम पड गया ।

भगवान् का एक नाम प्रजापति भी है । साधारण भाषा मे प्रजापति कुम्भकार को कहते है । क्योकि भगवान् ने अपने जीवन

मे सबसे पहिले जनता को मृत्तिका भाण्ड बनाने का उपदेश दिया था। इसीलिए उन्हे प्रजापति सज्ञा दी गई हैं।

जब भगवान् युवा हुए तो उनका सुनन्दा तथा सुमगला नामक दो सुन्दर युवतियो के साथ विवाह कर दिया गया। इनमे सुमंगलादेवी के उदर से भरत नाम के पुत्र, ब्राह्मी नाम की कन्या तथा ४९ युगल पुत्र हुए और देवी सुनन्दा के गर्भ मे सुन्दरी नाम की कन्या तथा महाबलशाली बाहुबलि नाम के पुत्र का जन्म हुआ। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव की कुल १०२ सन्ताने थी।

भगवान् ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम भारतीय जनता का सुव्यवस्थित संगठन किया था, इसी कारण उन्हे भारतवर्ष का सर्वप्रथम 'राजा' माना जाता है। भगवान् ने अपने राज्यकाल मे मानव समाज का व्यवसाय के अनुसार विभागीकरण किया था। जो प्रजा का पालन करने मे समर्थ थे। जनता को सुखी रखने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति को अपनाते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। व्यापार, खेती-बाडी आदि व्यवसाय में निपुण 'वैश्य' तथा सब प्रकार से समाज की सेवा करने वाले शूद्र कहलाये। उन दिनो आज की भाति 'शूद्र' को घृणित दृष्टि से नही देखा जाता था। बल्कि अपने व्यवसाय के अनुसार उसका समाज मे उचित सम्मानित स्थान था। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन तीनो विभागो मे सम्पूर्ण जनता का कर्तव्य क्षेत्र विभक्त था। भगवान् ऋषभदेव जन्म से जाति व्यवस्था को नही मानते थे। वे कर्मणा व्यवस्था के पूर्ण हिमायती थे। इसीलिए सभी वर्ग के लोग भगवान् के प्रति श्रद्धा के भाव रखते थे।

यह राज्य व्यवस्था का आदिकाल था। इसलिए शासनव्यवस्था को सुचारु रूप मे व्यवस्थित करने में कुछ उलझने तो

अवश्य आई, परन्तु समय की आवश्यकता के कारण उन सव का भगवान् के उचित नेतृत्व मे निराकरण होता चला गया। एक वार चारो ओर व्यवस्था का साम्राज्य छा गया। जनता अपने अपने कर्तव्य पथ पर दिनो दिन अग्रसर होने लगी।

भगवान् ने अपने जीवन का अधिकाश भाग राज्याधिकारी के रूप मे विताया। इस समय मे आपने जनता को पुरुषो की वहत्तर कलाओ तथा स्त्रियों की चौसठ कलाओं का रचनात्मक उपदेश दिया। इसके वाद भगवान् को संसार से विरक्ति हो गई। अपने समस्त राज्य को अपने सौ पुत्रो मे वाट कर भगवान् ने दीक्षा ग्रहण करली। भगवान् के साथ ही अन्य चार हजार पुरुष और दीक्षित हुए।

भगवान् के प्रति प्रेम भाव के कारण ही इन लोगो ने संयम व्रत ग्रहण किया था। ज्ञानपूर्वक विवेक उनमे नही था। फलस्वरूप साधक जीवन की कठोरता को वे सहन नही कर सके। तीर्थंकर भगवान् केवल ज्ञान प्राप्ति तक मौन रहते है। भगवान् ऋषभदेव के मौन के कारण भी उनका मन विकल हो गया था। अन्त-मे संयम के दु:खों से घवराकर उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ दिया और इच्छानुसार मार्ग को अपनाने लगे। उन्होने अनेक प्रकार के अपने चिन्ह, वेश स्थापित कर लिए। परिणामस्वरूप अनेक मत पंथो का जन्म हो गया। इन पंथों की तत्कालीन संख्या ३६३ मानी जाती हैं।

उधर भगवान् आदिनाथ, परम पद प्राप्ति के लिए वनो मे वृक्षों के नीचे दूर दूर एकान्त स्थानो मे जड और चेतन का विश्लेपण करते हुए ध्यान समाधि आदि आध्यात्मिक प्रयोगो द्वारा आत्म साक्षात्कार करने में मस्त थे।

भगवान् के दीक्षित होने के वाद उनके ९८ पुत्रो को भी वैराग्य हो गया। वे शाश्वत सुख की प्राप्ति के हेतु भगवान् की चरण शरण मे जाकर दीक्षित होगए।

अब राज्य व्यवस्था का उत्तरदायित्व भरत और बाहुवलि के कन्धो पर आ गया। भरत चक्रवर्ती पद के-अधिकारी थे। इस-लिए वे बाहुवलि को अपने शासन मे लेना चाहते थे किन्तु बाहु-वलि अपने समय के अद्वितीय योद्धा थे। वे भरत की आन मानने को किसी भी प्रकार तैयार नही थे। अन्त मे दोनो मे युद्ध निश्चित हुआ। यह युद्ध अपने आप मे एक विशेप प्रकार का युद्ध था। यद्यपि उस समय सेना का संगठन हो चुका था। फिर भी दोनो ने सैनिक युद्ध के द्वारा निरपराध जनता का सहार न करके इसे केवल अपने दोनो तक ही सीमित रखा। सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध हुआ। फिर नाद युद्ध हुआ। इन दोनो मे दोनो का वल वरावर रहा। अव मुष्टि युद्ध की वारी आई। भरत के मुष्टि प्रहार को बाहु-वलि ने सहार लिया, लेकिन बाहुवलि ने प्रहार के लिए ज्यो ही मुष्टि उठाई, इन्द्र के प्रतिवोध से उनके विचारो मे एक दम परिवर्तन आ गया। क्षणिक राज्य के लिए अपने वडे भाई पर प्रहार करना उन्हे अच्छा न लगा। उनका सोया हुआ विवेक एक दम जागृत हो उठा। उसी क्षण उन्होने अपनी उठी हुई मुट्ठी से अपना केश लुंचन कर लिया और स्वयमेव दीक्षित होगए। इस प्रकार अव समस्त राज्याधिकार भरत के हाथो में आ गया।

उधर भगवान् ने दीक्षा लेने के पश्चात् तपोव्रत आरम्भ कर दिया। तप के उद्यापन के लिए भगवान् जब आहार के लिए नगरो मे पधारे तो जनता उनके तपोमय रूप का दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ी। कोई उन्हे वस्त्र भेट करना चाहता था। कोई

आभूषण देना चाहता था। कितने ही लोग हाथी घोड़े लेकर भगवान् की सेवा मे उपस्थित हो गए। आहार देने की विधि न जानने के कारण कोई भी भगवान् को आहार दान न दे पाया। इस प्रकार अनेक नगरो मे घूमते-घूमते भगवान् को साढे ग्यारह मास से भी अधिक समय हो गया। अन्त मे प्रभु हस्तिनापुर नगर मे पधारे। यहा का राजा श्रेयास बड़ा ही दानी था। उसने बडे ही भक्ति-भाव से भगवान् को इक्षुरस का निर्दोष आहार दान दिया। भगवान् ने पूरे एक वर्ष बाद आज इक्षुरस से पारणा किया। चारो दिशाओ में अहोदान-अहोदान' की आकाशवाणी गूंज उठी। भगवान् को सर्वप्रथम यह आहार दान वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन मिला था। इसी कारण यह तिथि अक्षय तृतीया कहलाती है।

यहा से प्रभु ने अनेक दुर्गम स्थानो मे जाकर आत्म-साधना की। अनेक ग्राम, नगरो मे भ्रमण करते हुए एक बार आप पुरिमताल नामक नगर के उद्यान मे पधारे। इस समय तक भगवान् को आत्म-साधना करते हुए एक हजार वर्ष व्यतीत हो चुके थे। आज का दिन साधना का अन्तिम दिन था। फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन पूर्वाह्न समय मे भगवान् तेले की तपस्या मे ध्यानस्थ थे। उन्हे उसी क्षण केवल ज्ञान, केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई। अब भगवान् सर्वज्ञ वीतराग तथा पूर्ण आत्म-द्रष्टा हो गए। इन्हे पूर्ण जिन पद प्राप्त हो गया। भगवान् के धर्मोपदेश के लिए देवताओ ने समवशरण की रचना की। भगवान् के समवरण मे मनुष्यो-देवताओ के अतिरिक्त पशु-पक्षी भी धर्म उपदेश सुनने के लिए आते थे। सभी जीव जन्तु वैर-विरोध छोडकर भगवान् के उपदेशामृत का पान करते थे। उनकी वाणी मे ऐसा विलक्षण प्रभाव था कि

उसे मनुष्य ही क्या पशु आदि समस्त जीव मात्र आसानी से समझ लेते थे। भगवान् की पवित्र वाणी से हजारो प्राणियों ने आत्म लाभ प्राप्त किया। संसार अवस्था मे भगवान् ने जनता को सामाजिक व्यवस्था का उपदेश दिया था। अब केवल ज्ञान दशा मे आत्म-धर्म के मार्ग का पथ प्रदर्शन किया। वे इस अवसर्पिणी काल के सर्वप्रथम धर्म उपदेष्टा थे। इसीलिए उनका नाम 'आदिनाथ' कहलाता है। साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविका इन चार तीर्थों की स्थापना करके प्रभु ने धार्मिक जगत को सगठित किया। इस सगठन को तीर्थ अथवा 'संघ' कहा जाता है। इस संघ व्यवस्था मे ८४ हजार साधु, तीन लाख साध्विया, तीन लाख पचास हजार श्रावक तथा पांच लाख चौपन हजार श्राविकाएं सम्मिलित थी। भगवान् की 'ब्राह्मी' तथा सुन्दरी नामक दोनो पुत्रिया भी दीक्षित हो गई थी।

भगवान् को ये दोनो ही कन्याएं अत्यन्त बुद्धिशालिनी थी। ब्राह्मी-अक्षर ज्ञान, व्याकरण, न्याय व साहित्य मे पारगत थी। ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ऋषभ पुत्री ब्राह्मी के द्वारा ही हुआ है। इसी ब्राह्मी लिपि का रूपान्तर आज की हिन्दी (नागरी) लिपि मानी जाती है। आजकल जितनी भी लिपियां प्रचलित है सब का मूल ब्राह्मी लिपि है। दूसरी पुत्री सुन्दरी गणित विद्या में पारंगत थी। आज का गणित शास्त्र 'सुन्दरी' के गणित शास्त्र का ही विकसित रूप है। ऋषभ परम्परा में ब्राह्मी और सुन्दरी का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

बाहुबलि जी दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् के चरणो मे पहुँचना चाहते थे। किन्तु उनके मन मे उस समय यह विचार उत्पन्न हो गया कि वहां जाने पर मुझे अपने पूर्व

दीक्षित छोटे भाईयो को वंदना करनी पडेगी । इससे मेरा सम्मान घटेगा। इस समय वे दुष्कर तपस्या मे लीन थे तो भी उनके मन मे मान घर किए बैठा था । इसी कारण उनका केवल ज्ञान रुका हुआ था। भगवान् ने अपने केवल ज्ञान मे यह सब कुछ जान लिया। उन्होने अपनी दोनो पुत्रियो को बाहुबलि प्रतिबोध के लिए वन मे भेजा। ब्राह्मी तथा सुन्दरी जी के प्रतिबोध से बाहुबलि जी के परिणाम बदल गए । उन्हे अपना वास्तविक बोध हो गया। अभिमान के स्थान पर अब उनमे आत्माभिमान–स्वाभिमान जागृत हो गया। उन्होने ज्योही भगवान् के चरणो मे जाने के लिए अपना एक पग उठाया, उसी समय उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। शास्त्र मे ठीक ही कहा है कि मान से मनुष्य का विनय गुण नष्ट हो जाता है। जब मनुष्य मे विनय गुण प्रगट हो जाता है तो उसकी आत्मा शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

विनय हमारी आत्मा का निज-गुण है। आगम साहित्य मे तो यहा तक कहा गया है कि धर्मरूपी वृक्ष का विनय मूल है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल से धड उत्पन्न होता है। धड से शाखाएं निकलती है, ठीक उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष की विनय रूपी जड से जीवन मे कीर्ति, शास्त्र-ज्ञान, उच्चपद और अन्त मे आत्मिक आनन्द रूप रस की उत्पत्ति होती है, जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार कार्य करता है। उनके समीप रहता है। उनके अनुकूल कार्य करता है। विवेक से रहता है तथा गुरुदेव के संकेतो को समझता है, वह विनयी शिष्य कहलाता है। उसी का कल्याण होता है। इसके विपरीत जो आचरण करता है उसे 'अविनीत कहते हैं। श्री बाहुबलिजी के उदाहरण से बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य कितनी ही बडी से बडी

तपस्या करे—पर जब तक उसके जीवन मे अभिमान रहेगा तब तक उसे केवल ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। आगम मे कहा है कि मान से विनय गुण नष्ट हो जाता है। जिससे आत्मा के समस्त गुण आवरण मे आ जाते हैं।

निर्वाण—इस अवसर्पिणी काल मे भगवान् ऋषभदेव सर्व-प्रथम आर्य जाति के उपास्य हुए हैं। आज हम जिस समाज-व्यवस्था मे अपना जीवन यापन कर रहे हैं, इसके मूल स्रष्टा भगवान् आदीश्वर ही है। यही कारण हैं कि भारत का प्रत्येक सम्प्रदाय उन्हे किसी न किसी रूपमे अपना उपास्य मानता ही हैं। वे विश्वकर्मा थे। प्रजापति थे। उस युग के सर्वप्रथम मुनि थे। वे अपने जीवन के अन्तिम समय तक जन-कल्याण मे निरत रहे थे। केवल ज्ञान होने के पश्चात् सहस्रो वर्षो तक भगवान् ने अपने उपदेशो द्वारा भव्य जीवो का उद्धार किया। अन्त मे अपना निर्वाणकाल समीप जानकर प्रभु हजारो मुनिराजो के साथ अष्टापद पर्वत पर पधार गए। जहा माघ कृष्णा १३ को चार अघातिक कर्मो का क्षय करके अचल सिद्ध गति को प्राप्त हुए। इस समय अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीन वर्ष साढे सात मास शेष थे।



प्रकरण दूसरा

भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् इस अवसर्पिणी काल मे २३ तीर्थङ्कर और हुए हैं। इनमे से अधिकाश तीर्थङ्करो का काल आज के ऐतिहासिक काल की परिधि से बहुत पहिले का है। इसीलिए उनका विस्तृत इतिहास अप्राप्य सा है।

इन सभी तीर्थङ्करो ने अपने अपने समय मे शुद्ध मुनिधर्म अङ्गीकार करके कठोर तपश्चरण किया है। जब उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया तो जनता को धर्म उपदेश देना आरम्भ कर दिया। सभी तीर्थङ्करो के काल मे गणधर व्यवस्था हुई है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविक रूप धर्म 'तीर्थ' की स्थापना हुई है। उस "तीर्थ" स्थापना के कारण ही उन्हे तीर्थङ्कर कहा जाता है। जैन धर्म मे चतुर्विधि संघ को ही तीर्थ माना गया है। ये चारों तीर्थ स्वयं भी अपना कल्याण करते हैं और जो जीव उनके धार्मिक जीवन से सत्प्रेरणा लेकर तीर्थङ्करो के बताये हुए मार्ग पर चलता है, उसका भी कल्याण होता है। तीर्थङ्करों के विशुद्ध जीवन का अध्ययन करने से आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिलती है। कर्म आवरण मे आया हुआ "तीर्थङ्करत्व" अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रगट हो जाता है।

तीर्थंकरों के माता-पिता निर्वाण स्थल आदि का संक्षिप्त परिचय

नाम	पिता	माता	स्थान	निर्वाण
श्री अजितनाथ जी	जितशत्रु राजा	विजया देवी	अयोध्या	सम्मेद शिखर
श्री संभवनाथ	जितार्थ राजा	सेना देवी	श्रावस्ती	"
श्री अभिनन्दननाथ जी	सम्वर राजा	सिद्धार्थदेवी	विनीता	"
श्री सुमतिनाथ जी	मेघरथ राजा	सुमंगलादेवी	कुशनपुरी	"
श्री पद्म प्रभु जी	श्रीधर राजा	सुसीमा	कौशाम्बी	"
श्री सुपार्श्वनाथ जी	प्रतिष्ठेन	पृथ्वीदेवी	काशी	"
श्री चन्द्रप्रभु जी	महासेन	लक्ष्मीदेवी	चन्द्रपुरी	"
श्री सुविधिनाथ जी	सुग्रीव राजा	रामादेवी	काकन्दी	"
श्री शीतलनाथ जी	दृढ़रथ	नन्दादेवी	भद्दिलपुर	"

श्री श्रेयासनाथ जी	विष्णुसेन	विष्णुदेवी	सिंहपुरी	,,
श्री वासु पूज्य जी	वसु पूज्य	जयादेवी	चम्पापुरी	चम्पानगरी
श्री विमलनाथ जी	कर्तृ वर्म	श्यामादेवी	कम्पिलपुर	सम्मेत शिखर
श्री अनन्तनाथ जी	सिंहसेन	सुयशादेवी	अयोध्या	,,
श्री धर्मनाथ जी	भानुराजा	सुव्रतादेवी	रत्नपुर	,,
श्री शान्तिनाथ जी	विश्वसेन	अचिरादेवी	हस्तिनापुर	,,
श्री कुन्थुनाथ जी	सूरराजा	सूरादेवी	,,	,,
श्री अरनाथ जी	सुदर्शन राजा	श्री देवी	,,	,,
श्री मल्लिनाथ जी	कुम्भ राजा	प्रभावती	मिथिला नगरी	,,
श्री मुनिसुव्रत जी	सुमित्र राजा	पद्मादेवी	राजगृह	,,
श्री नमिनाथ जी	विजयसेन	वप्रादेवी	मिथिला नगरी	,,
श्री नेमिनाथ जी	समुद्रविजय	शिवादेवी	सौरीपुर	रैवतकगिरि
श्री पार्श्वनाथ जी	अश्वसेन	वामादेवी	काशी	सम्मेत शिखर
श्री महावीर स्वामी	सिद्धार्थ राजा	त्रिशलादेवी	कुण्ड ग्राम	पावापुरी

इन चौवीस तीर्थङ्करो मे से धर्मनाथ अरनाथ, तथा कुन्थुनाथ का जन्म कुरुवंश मे मुनि सुव्रतनाथ का हरिवंश और शेष सब तीर्थङ्करो का जन्म इक्ष्वाकुवंश मे हुआ था।

सभी तीर्थङ्करो का जीवन पूर्ण तपोमय था। सभी ने शुद्ध अनगार धर्म स्वीकार किया था और कठोर तप आराधन से केवल ज्ञान प्राप्त करके संसार के समस्त जीवो को मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया था। अपने-अपने समय मे सभी ने तीर्थ व्यवस्था की थी। अन्त मे सब ने निर्वाण पद प्राप्त किया। सभी तीर्थङ्कर आध्यात्मिक जगत की विराट् विभूति थे। इनमे से पाच तीर्थङ्करो का जीवन विशेष रूप से प्रसिद्ध है। अत. उनकी संक्षिप्त जानकारी नीचे दी जा रही है।

श्री शान्तिनाथजी

ये सोलहवे तीर्थङ्कर थे। इनके पिता हस्तिनापुर के महाराजा विश्वसेन और माता श्री अचिरादेवी जी थी। इनका जन्म और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ था। ये भरत क्षेत्र के चक्रवर्ती भी रहे हैं। इनके जन्म से पहिले समस्त देश में महामारी, मृगी की बीमारी फैली हुई थी। इनको गर्भ मे आते ही समस्त देश मे शान्ति छा गई। इसी कारण इनका नाम "शातिनाथ" रखा गया था।

अपने पूर्वभव मे इन्होने "राजा मेघरथ" के रूप मे एक कबूतर की जीवन रक्षा के लिए अपने शरीर को अर्पित कर दिया था। इसी शुभ तथा शुद्ध दयाभाव के कारण इन्होने तीर्थङ्कर नामकरण का उपार्जन किया था। इनका दयाभाव

बडा ही अनुपम था। आज भी लाखो की संख्या मे श्रद्धालु लोग आपके नाम स्मरण मात्र से आत्मशान्ति प्राप्त करने का सफल प्रयत्न करते हैं।

श्री मल्लिनाथजी

ये उन्नीसवे तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म मिथिला नगरी मे हुआ था। इनके पिता कुम्भ राजा थे और माता प्रभावती थी। चौवीस तीर्थङ्करो मे केवल ये ही एक स्त्री तीर्थङ्कर हुए हैं। इनका शास्त्रीय नाम भगवती मल्लिकुमारी है। बोलचाल की भाषा मे जनता इन्हे अन्य तीर्थङ्करो के साथ-साथ मल्लिनाथ कहने लग पडी। स्त्री भी तीर्थङ्कर हो सकती है यह इस बात का एक ज्वलंत उदाहरण है। हमारे देश की मातृ-जाति के लिए यह बडे ही गौरव की बात है। आपने भी अन्य तीर्थँङ्करो की भाति दीक्षा व्रत स्वीकार कर लिया था और उत्कृष्ट तप आराधन के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इनके तीर्थ मे चालीस हजार मुनि, पचपन हजार साध्विया, एक लाख उनासी हजार श्रावक तथा तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएं थी।

प्राचीन भारत मे नारी का कितना उच्च सन्मान था, भगवती मल्लिकुमारी जी का जीवन उसका स्पष्ट प्रमाण है। माता मरुदेवी की जीवनगाथा और मल्लिकुमारी जी की आत्मकथा हमारे आगम साहित्य की अमर विभूतिया है। जैन धर्म मे पुरुषो के समान ही स्त्रियो को भी आत्म कल्याण का समान अधिकार दिया गया है।

श्री अरिष्टनेमिजी

ये यादव वंश के महान् प्रतापी राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शिवादेवी था। राजा समुद्रविजय श्री कृष्ण

के पिता वसुदेवजी के वडे भाई थे। श्री अरिष्टनेमिनाथजी का अस्तित्व वैदिक साहित्य भी वडी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन् ने वेदो मे से अनेक ऐसे प्रामाणिक मन्त्र खोज निकाले हैं। जिनमे भगवान् अरिष्टनेमिनाथजी की स्तुति की गई है। जैन शास्त्रो के अनुसार भगवान् श्री अरिष्टनेमिनाथजी का समय छियासी हजार वर्ष प्राचीन ठहरता है और वैदिक साहित्य केवल पांच हजार वर्ष का समय मानता है। प्रसिद्ध जैन शास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वे अध्याय मे श्री अरिष्टनेमि का वडा ही हृदयग्राही वर्णन मिलता है।

युवा होने पर वासुदेव श्री कृष्ण श्री अरिष्टनेमिजी की शादी कर देना चाहते थे। यादव वंश शिरोमणि श्री अरिष्टनेमि का मथुराधिपति महाराज उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ विवाह होना निश्चित हुआ था। उन दिनो श्री अरिष्टनेमी द्वारिका मे रहते थे। विवाह का समय आने पर वरात रवाना हुई और मथुरा पहुँची। राजकुमार श्री अरिष्टनेमि के साथ आये हुए कुछ मासभक्षी वारातियो के लिए राजा उग्रसेन ने वाड़े मे पशु वंधवा रखे थे। एकत्र पशुओ को दुखी देखकर भगवान् अरिष्ट-नेमि के हृदय मे अपार करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा। वे पशुओ को वंधन मुक्त करवाकर बिना विवाह किये ही वापिस चले आये। अन्य तीर्थङ्करो के व्यवहार के अनुसार दान आदि व्यवहार पूर्ण करके दीक्षित हो गए।

भगवान् के इस वैराग्यभाव का राजीमती पर भी वडा प्रभाव पडा। वह भी भगवान् के चरणो मे जाकर दीक्षित हो गई। भगवान् की ओर जाते हुए राजीमती को रथनेमि नाम के युवा साधु ने देखा, वह इनके रूप सौन्दर्य पर मोहित हो गया।

चरित्रशीला राजीमति की उपदेश भरी फटकारो से रथनेमि का मन अपने संयम मे स्थिर हो गया और शुद्ध अन्तःकरण से भगवान् के चरणो मे आ गया।

राजीमती का तपश्चरण बड़ा ही उग्र था। यही कारण है कि भगवान् अरिष्टनेमिनाथ से उनचास दिन पहिले ही उन्हे सिद्धगति प्राप्त हो गई। भगवान् ने अपने जीवनकाल मे पशु संरक्षण पर विशेष बल दिया था। श्री कृष्ण कर्मयोगी थे और भगवान् अरिष्टनेमि आध्यात्म योगी। इन दोनो महापुरुषो का योग भारतीय संस्कृति मे अमर है। अरिष्टनेमिनाथजी का प्रसिद्ध नाम नेमिनाथ भी है। इसी नाम को अधिक जनता उन्हे जानती है। नेमिनाथजी का निर्वाण स्थल गिरनार पर्वत माना जाता है। यह स्थान जूनागढ़ के निकट है। भगवान् का अहिंसा आदोलन यही से प्रसारित हुआ था और धीरे-धीरे सारे सौराष्ट्र मे फैलता हुआ समूचे देश मे फैल गया।

सौराष्ट्र मे आज भी अन्य स्थानो की अपेक्षा कम हिंसा होती है। यह भगवान् के अहिंसा वरदान का ही प्रभाव है।

श्री पार्श्वनाथजी

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म बनारस मे हुआ था। इनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। इनका समय ईसा से अनुमानतः आठ सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। इनकी चित्त-वृत्ति आरम्भ से ही वैराग्य की ओर विशेष थी। माता-पिता ने अनेक वार इनके सामने विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु इन्होने बड़े ही शिष्ट शब्दों से उसे टाल दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ का युग तापसो का युग था। उन दिनो

हजारो तापस शारीरिक कष्ट साधना मे लगे हुए थे। उनकी इस कष्ट साधना के अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार थे। अनेक वृक्षो पर लटककर, अनेक सूखे पत्ते चबाकर और अनेक पंचाग्नि मे तपकर, वाह्य क्रिया-काण्डो मे लीन थे। उस समय अधिक जनता विवेकशून्य क्रिया-काण्ड से प्रभावित थी। 'देहदण्डं महाफलम्'' का प्रचार चारो ओर वढ रहा था। कमठ नाम का प्रसिद्ध तापस उन्ही दिनो वनारस की जनता का विशेष श्रद्धा केन्द्र वना हुआ था। वह गगा तट पर पचाग्नि तप कर रहा था। कुमार पार्श्वनाथ एक दिन अपनी माताजी के साथ कमठ तापस के पास आए और तापस मे वोले--इन लक्कड़ो को जलाकर व्यर्थ ही तुम लोग जीव-हिंसा क्यो कर रहे हो? कुमार की वात सुनकर कमठ झल्लाकर वोला—इन लक्कड़ो मे कहां है, जीव? कुमार ने उसी समय एक जलते हुए लक्कड में से झुलसते हुए विषधर युगल को निकाल कर तापस को दिखा दिया। इतना ही नही उन्होंने मरणोन्मुख नाग-नागिन के जोड़े करुणार्द्र हृदय मे नवकार मन्त्र का शरण भी दिया। जिसके प्रभाव से वे दोनो वहा मे मरकर धरणेन्द्र तथा पद्मावती वने।

नाग-नागिन की इस घटना से कुमार पार्श्वनाथ के मन को वडा दुख हुआ। जीवन की अनित्यता ने उनके चित्त को ससार से और भी उदासीन वना दिया। वे उसी समय राजसुख छोडकर संयम मार्ग वे प्रव्रजित हो गए।

उधर क्रोधावेश के कारण कमठ तापस की मृत्यु हो गई। वह देवलोक में मेघमाली नामक देवता वना। अपने पिछले भव का प्रतिशोध लेने के लिए उसने तपस्या मग्न भगवान् को अनेक कष्ट दिये। एक वार उसने मूसलाधार वृष्टि करके उन्हे जल-

मे डुबा देने की असफल कुचेष्टा की, किन्तु नाग-नागिन के जीव धरणेन्द्रदेव और पद्मावती ने भगवान् के उपसर्ग का निवारण किया। धरणेन्द्र देव ने सहस्रफणी नाग का रूप बनाकर भगवान् पर छत्र बना दिया। कमठ का जीव मेघमाली यह सब कुछ देखकर बहुत ही लज्जित तथा भयभीत हुआ और भगवान् की चरण-शरण मे जाकर जैसे-तैसे उसने अपनी जान बचाई।

भगवान् ने तीस वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी और ७० वर्ष तक जगह-जगह भ्रमण कर के धर्म प्रचार किया। श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, कम्पिलपुर, और अहिच्छत्रा आदि स्थान भगवान् के विशेष प्रचार तथा विहार क्षेत्र रहे। आपके संघ मे आठ प्रमुख गणधर थे और पुष्पचूला नाम की महासती भिक्षुणी सघ की अधिनायिका थी। दूसरे तीर्थङ्कर भगवान् अजितनाथ जी के समय से चली आयी चतुर्यामव्रत परम्परा को ही भगवान् पार्श्वनाथ ने विशेष बल दिया। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायो के साहित्य मे भगवान् पार्श्वनाथजी के जीवन वृत्तान्त का उल्लेख मिलता है। दीक्षा से ८४ वे दिन भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस प्रकार सौ वर्ष की आयु मे सम्मेद शिखर पर आपका निर्वाण हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ के नाम से ही आज सम्मेद शिखर पर्वत "पारसनाथ हिल" के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रभु पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद उनके आठ गणधरो मे से श्री शुभदत्त संघ के मुख्य गणधर हुए। इनके बाद हरिदत्त, आर्य समुद्रप्रभ, और केशिस्वामी संघनायक पद पर आये। भगवान् के निर्वाण के बाद और केशिस्वामी के आचार्यकाल के बीच मे पार्श्वनाथ प्रभु के द्वारा उपदिष्ट व्रतो के पालन मे क्रमश शिथि-

लता आगई थी। काल प्रवाह के कारण निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मे अनेक विकार प्रविष्ट हो गये थे।

जहा तक भगवान् पार्श्वनाथजी की परम्परा का प्रश्न है, इसके विषय मे अभी तक क्रमश. कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। आगम साहित्य मे अनेक महापुरुषो के नाम आये है जो पार्श्व परम्परा के ही अनुयायी थे। परदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशीकुमार श्रमण भी पार्श्वापत्यिक ही थे। अंतिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का परिवार भी पार्श्व परम्परा का ही अनुयायी 'विवेकपूर्ण क्रिया' ही भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो का मुख्य सार है।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व भारत की स्थिति बडी ही दयनीय थी। धर्म के नाम पर अनेक विवेकहीन क्रिया-काण्ड आरम्भ हो चुके थे। वर्ण व्यवस्था इतनी विकृत हो चुकी थी कि अपने आपको उच्च वर्ण का मानने वाले दूसरे वर्ण के व्यक्तियो को हीन समझते थे। ब्राह्मण वर्ग का चारो ओर बोलबाला था। यज्ञ के नाम पर अनेक प्रकार के हिंसा-काण्ड चल पडे थे। दिनो दिन सबकी वैचारिक शक्ति क्षीण होती चली जा रही थी। पेड, पर्वत, नदी-नाले, अग्नि, आदि को ही लोगो ने देवता मानना आरम्भ कर दिया था। चारो ओर हिंसा का नग्न-नृत्य हो रहा था। पाखण्ड ढोग तथा बाह्य आडम्बर बढता जा रहा था। गुण पूजा का स्थान व्यक्ति पूजा ने ले लिया था। आध्यात्मिक जनता का विश्वास हिलता जा रहा था। स्त्री तथा शूद्रो को अधिकार से वंचित कर दिया गया था। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" की उक्ति से

ब्राह्मण लोग जनता पर अपना एकाधिकार जमाये बैठे थे। स्त्री को अबला की सज्ञा देकर उस पर मनमाने अत्याचार हो रहे थे। धार्मिक अथवा सामाजिक किसी भी क्षेत्र मे उन्हे स्वतंत्रता प्राप्त नही थी। तत्कालीन शूद्र कहे जाने वाले वर्ग की स्थिति भी वड़ी ही शोचनीय थी। सेवा का पवित्र कार्य करने पर भी उन्हे दीन-हीन समझा जाता था। उन पर असीम अत्याचार होते थे। यदि भूल से भी कोई स्त्री अथवा शूद्र-वेद मन्त्र सुन लेता था तो उसके कानो मे गर्म शीशा भरवा दिया जाता था। यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ की २५०, वर्ष पुरानी परम्परा उस समय किसी न किसी प्रकार चल रही थी किन्तु सशक्त नेतृत्व के अभाव मे उसमें तत्कालीन हिंसा-काण्ड का विरोध करने की क्षमता नही थी। स्वयं उस पवित्र परम्परा के अनुयायी भी अपने कर्तव्य पालन मे शिथिल से हो गये थे।

उन दिनो देश मे गणराज्य व्यवस्था थी। यह व्यवस्था ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व से भारत मे प्रचलित थी। गणराज्य में, राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राजकीय अधिकार प्राप्त होता है। उसकी तथा उसके अधिकार की इस व्यवस्था मे पूर्ण सुरक्षा होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी। ईसा की चौथी शताब्दी तक भारत मे गणराज्य व्यवस्था का रूप मिलता है। बाद मे धीरे-धीरे शासको मे फूट पडने लगी और देश मे सामन्तशाही का जोर बढने लगा। कुछ भी हो, गणराज्य व्यवस्था भगवान् महावीर के पूर्व से उनके काल तक समूचे देश मे प्रचलित रही है। लिच्छिवि वंश तथा महाराज चेटक की गण-राज्य व्यवस्था का जैन साहित्य मे वडा ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर का जन्म

भगवान् महावीर का जन्म ईसा से अनुमानत. ५०० वर्ष पूर्व क्षत्रिय कुण्डग्राम मे हुआ था। यहा के अधिपति राजा सिद्धार्थ थे। ये ज्ञातृवश के थे। इनकी रानी त्रिशला तत्कालीन गणराज्य के गणपति महाराज चेटक की कन्या थी। जैन शास्त्रो मे चेटक को वैशाली का राजा माना है। ये इक्ष्वाकु वंश के शिष्ट गोत्री थे। इनकी रानी का नाम भद्रा था। इनके घनदत्त आदि दश पुत्र तथा त्रिशला प्रमुख सात पुत्रियाँ थी। कौशाम्वी के चन्द्रवंशी राजा शतानीक की रानी मृगावती भी चेटक की ही पुत्री थी। 'उदयन शतानीक का पुत्र था।' कनिंघम साहब ने उदयन का राज्यकाल ईसा से ५७० वर्ष पूर्व माना है। मगध राज्य के अधि-पति महाराजा श्रेणिक की पटरानी चेलना रानी भी महाराजा चेटक की ही पुत्री थी। उपर्युक्त सम्बन्धो मे यह स्पष्ट है कि राजा सिद्धार्थ उस समय के महान् शूरवीर तथा प्रतिष्ठा प्राप्त नर-नायक थे। अन्यथा उनका विवाह इस प्रकार के विशाल तथा गणराज्याधिपति के परिवार मे होना सम्भव नही था।

भगवान् की जन्मभूमि कुण्डग्राम के मुख्य दो भाग थे। एक क्षत्रिय कुण्डग्राम तथा ब्राह्मण कुण्डग्राम। क्षत्रिय कुण्ड ग्राम मे 'सिद्धार्थ' तथा ब्राह्मण कुण्ड ग्राम में पण्डित ऋषभदत्तजी अपना शासन चलाते थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम देवानन्दा था। आगम परम्परा के अनुसार भगवान् सर्वप्रथम देवानन्दा के गर्भ में ही आये। इसके बाद ८२वी रात्रि को हरिण गवेषी देवता ने अपनी दैविक शक्ति से उन्हे त्रिशला रानी की कुक्षि मे स्थापित कर दिया। उसी रात त्रिशला रानी ने चौदह महा स्वप्न देखे, तत्पश्चात् गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को

भगवान् का जन्म हुआ। भगवान् के बडे-भाई का नाम नन्दीवर्धन था और सुदर्शना बहन का नाम था। भगवान् के चाचा का नाम सुपार्श्व था।

भगवान् के गर्भ मे आने से ही राजा सिद्धार्थ के राज्य की वृद्धि होने लगी थी, इसीलिए भगवान् का नाम वर्द्धमान रखा गया। भगवान् का वाल्यकाल बड़ा ही शौर्यपूर्ण रहा था। उनके बचपन की अनेक घटनाओ से इस बात की पुष्टि होती है। एक बार बाल भगवान् वर्द्धमान ने खेल ही खेल मे एक देव को परास्त कर दिया था, तभी मे आपका नाम महावीर पड गया। वे जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक थे। उनकी वृत्ति सदा अन्तर्मुखी रहती थी। ससार मे रहकर भी वे भोग सामग्री से विरक्त रहते थे। उनकी आत्मा मे एक दिव्य प्रकाश था। उनका शरीर बडा ही सुन्दर था। स्वभाव मे भगवान् बडे ही शान्त तथा गम्भीर थे।

धीरे-धीरे जब भगवान् यौवन वय मे प्रवेश कर गए तो उनका विवाह कौण्डिय गोत्रीया एक यशोदा नामक कन्या मे कर दिया गया। यशोदा कलिग देश जितशत्रु राजा की पुत्री थी। इच्छा न होते हुए भी भगवान् ने यह विवाह सम्बन्ध माता पिता की सतुष्टि के लिए तथा भोगावली कर्मों को भोगने के लिए ही स्वीकार किया था। भगवान् की एकमात्र सन्तान प्रियदर्शना नामक कन्या थी। इसका विवाह भगवान् महावीर की बहिन सुदर्शना के पुत्र जमाली के साथ हुआ था। इन सब उल्लेखो से स्पष्ट है कि लिच्छिवियों और वज्जियो मे पहले मामा की सन्तान से विवाह होते थे।

भगवान् ने अपने गर्भकाल मे ही यह प्रतिज्ञा करली थी कि

माता-पिता के जीवित रहते मैं संयम व्रत स्वीकार नहीं करूंगा। यह भगवान् की मातृ-पितृ भक्ति का ज्वलत उदाहरण है। माता-पिता की मृत्यु के समय भगवान् की अवस्था २८ वर्ष की थीं। विरक्ति के भाव तो भगवान् के जीवन जन्म से थे ही। माता पिता की मृत्यु ने उनकी भावना को और भी उद्दीप्त कर दिया। उन्होने अपने ज्येष्ठ भाई नन्दीवर्धन के सामने अपने दीक्षित होने का प्रस्ताव रख दिया। उस समय स्वय नन्दीवर्धन भी माता-पिता की मृत्यु से अत्यन्त दुखी थे, इसीलिए उन्होने भगवान् को दीक्षा की अनुमति नही दी। नन्दीवर्धन के व्यथा-परिपूर्ण प्रस्ताव के कारण भगवान् दो वर्ष तक और गृहस्थावास मे रहे। अन्त में तीस वर्ष की पूर्ण यौवन अवस्था मे अपने संवधीजनो की आज्ञा लेकर पूर्ण संयमव्रती बन गए। भगवान् ने मार्गशीर्ष कृष्णा १०मी को राज्य वैभव छोडकर भगवती दीक्षा अङ्गीकार की थी। दीक्षा के वाद भगवान् ने साढे वारह वर्ष तक घोर तपस्या की। इस काल मे अधिकतर भगवान् मौन ही रहे। साधना काल मे भगवान् ने अनेक महान् उपसर्गों को सहन किया था। आगम के अनुसार तेईस तीर्थंकरो के कष्ट एक तरफ और अकेले भगवान् के कष्ट एक तरफ माने गए हैं। ग्वालों का उपसर्ग, संगम के कष्ट, शूलपाणी यक्ष का परीषह, चण्ड कौशिक का डंक, गोशालक तथा लाटदेशीय यातनाऐ भगवान् की सहनशीलता के असाधारण उदाहरण हैं।

सभी उपसर्गों को समता पूर्वक पार करते हुए अन्त मे वैशाख शुक्ला दशमी को ऋजुवालिका नदी के तट पर भगवान् महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था।

लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त होने के वाद भगवान्

महावीर ने जन-कल्याण के लिए धर्म उपदेश देना आरम्भ कर दिया। अपने उपदेशो द्वारा उन्होने जनता की सुप्त हुई मानवता को जागृत करने का प्रयत्न किया। इसके लिए तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक भ्रान्त रूढियो के विरुद्ध उन्होने एक अहिंसक आन्दोलन किया। उन्होने जनता को स्पष्ट शब्दो मे बताया कि मनुष्य का कल्याण बाह्य क्रियाकाण्डो के ही द्वारा नहीं होता, अपितु आत्मा के गुणो का विकास करने से होता है। यज्ञ के नाम पर की जाने वाली जीव हिंसा का उन्होने अपने उपदेशो मे घोर विरोध किया। उस समय की अधिकांश धार्मिक व्यवस्था ब्राह्मण वर्ग के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी। जाति वाद के सहारे ब्राह्मण धर्म गुरु समाज के सत्ताधारी अगुवा बन बैठे थे।

महावीर ने जाति-पाति के भेद-भाव के विरुद्ध पूरी शक्ति से सिंहनाद किया। उन्होने डके की चोट इस सत्य की उद्घोषणा की कि धर्म पर मानव मात्र ही नही बल्कि प्राणीमात्र का अधिकार है। धम किसी जाति अथवा व्यक्ति विशेष की बपौती नही है। धर्म उसी का कल्याण करता है, जो मन, वचन और शरीर से धर्म करता है। भगवान् के प्रचार के कारण, तत्कालीन अन्धविश्वासों के दुर्ग भूमिसात होने लगे। ब्राह्मण गुरुओ की प्रतिष्ठा के सिंहासन हिल उठे। महावीर की धर्मक्रान्ति का ज्वालामुखी चतुर्मुखी होकर फूट पडा। भगवान् महावीर के सचोट और सक्रिय उपदेशो ने जनता मे आध्यात्मिक क्रान्ति की लहर व्याप्त कर दी। जनता का सोया अथवा अपने स्वरूप को भूला हुआ सिंहत्व जाग पड़ा। हिंसामय धर्म कृत्यो के प्रति जनता मे घृणा के भाव उत्पन्न हो गए। एक प्रकार से समूचे देश की काया ही पलट गई।

केवली पद प्राप्त होने के बाद भगवान् की पहली देशना मे सिर्फ देवता ही देवता सम्मिलित हुए थे। मनुष्य कोई भी उपस्थित नही था। इसलिए वहा कोई भी व्रत प्रत्याख्यान नही ले सका। जैनागम मे इस घटना को आश्चर्य (अछेरा) माना गया है। क्योकि तीर्थङ्करो का दिया गया उपदेश कभी निष्फल नही होता।

भगवान् की दूसरी 'देशना' अपापा नगरी के महासेन उद्यान मे हुई थी। उन 'दिनो' इस नगरी मे 'सोमिल' नामक प्रसिद्ध विद्वान् के यहा एक वडा भारी यज्ञ हो रहा था। इस यज्ञ मे भाग लेने के लिए वडी दूर दूर से वड़े-वडे धुरंधर विद्वान् आये थे। इन्द्रभूति आदि उस समय के उच्चकोटि के ग्यारह महा पडित भी अपने ४४०० शिष्यो सहित यज्ञमे सम्मिलित थे। इन्द्रभूति को अपने पाण्डित्य का वडा गर्व था। वह अपने पाच सौ शिष्यो को लेकर शास्त्रार्थ करने के लिए भगवान् के समवशरण मे आया। भगवान् की शात मुद्रा देखकर तथा उनकी अमृतवाणी का पान करके उसके सब संदेह धुल गए। वह उसी समय अपने शिष्यो सहित भगवान् के पास दीक्षित हो गया। इसी प्रकार शेप दस विद्वानो ने भी अपनी शिष्य मण्डली के साथ दीक्षा लेली। भगवान् ने इन ग्यारहो विद्वानो को त्रिपदी का उपदेश दिया, जिसमे उन्होने द्वादशाङ्गी वाणी की रचना की। अपने इन ग्यारह प्रमुख शिष्यो को भगवान् ने गणधर पद पर नियुक्त कर दिया। यहा पर भगवान् ने चतुर्विध तीर्थ की रचना करके साधु साध्वी श्रावक श्राविका इन चारो को अपने अपने कर्तव्य पालन की व्यवस्था प्रदान की। ग्यारह गणधरो के नाम ये हैं—

(१) इन्द्र भूति (२) अग्नि भूति (३) वायु भूति (४) व्यक्त (५)

सुधर्मा स्वामी (६) मण्डित पुत्र (७) मौर्य पुत्र (८) अकम्पित (६) अचल भ्राता (१०) मेतार्य और ११ वें प्रभास स्वामी।

भगवान् के संघ मे सभी वर्ग के लोगो को समान अधिकार प्राप्त थे। नर के समान ही नारी को भी धर्म करने का पूरा अधिकार था। यही कारण है कि भगवान् के शासन मे उस समय १४ हजार साधु थे। भिक्षुणी संघ मे ३६ हजार साध्वियां थी। इनका नेतृत्व चम्पानगरी के दधिवाहन महाराज की पुत्री महासती चन्दन बाला के हाथ मे था। दूसरी ओर उनका उपासक वर्ग भी वडा ही विस्तृत था। श्रेणिक, कुणिक, वैशालीपति चेटक, अवन्तिपति चण्ड, प्रद्योतन अनेक प्रमुख राजा उनके गृहस्थ शिष्य थे। आनन्द, कामदेव आदि अनेक श्रावक थे। शालिभद्र और धन्ना जैसे वैश्य, हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र भी भगवान् के शिष्य थे। वारह व्रतधारी श्रावको की संख्या एक लाख उनसठ हजार की थी।

रेवती, सुलसा, जयन्ति आदि श्राविकाएं थी। जो जीवादि तत्वो का यथार्थ ज्ञान रखती थी। समवशरण जैसी विराट् सभा मे जयन्ति देवी के मार्मिक प्रश्नोत्तर "भगवती सूत्र" मे सूत्र बद्ध होकर आज भी जनता की जीवन समस्या का समाधान करते है। बारह व्रतधारिणी श्राविकाओ की संख्या तीन लाख अठारह हजार थी, इस प्रकार भगवान् महावीर का चतुर्विध संघ अत्यंत सुदृढ़ था। शासन व्यवस्था बड़ी ही सुन्दर थी। उसमे गणधर, आचार्य, गणि, उपाध्याय, प्रवर्तक, प्रवर्तनी आदि पदो के रूप मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया था। प्रत्येक वर्ण तथा जाति के लोग भगवान् के अनुयायी थे।

आचार पक्ष और परिनिर्वाण

आचार का अर्थ यदि केवल वाह्य क्रिया-काण्ड ही लिया जाय

तो उस समय उसका अत्यधिक प्रचार था। भगवान् महावीर हिंसात्मक आचार के प्रबल विरोधी थे। जहां हिंसा है वहां धर्म नही और जहां धर्म है वहां हिंसा नही। धर्म के नाम पर मूक पशुओ के जीवन से खिलवाड करना केवल आत्म प्रवंचना है। हिंसात्मक-क्रिया काण्डो से कभी भी मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। महावीर के सघ मे आचार का प्रथम सोपान अहिंसा को माना गया है। गृहस्थ हो या साधु, क्षत्रिय हो या वैश्य तथा ब्राह्मण हो या शूद्र जिस किसी को भी आत्म कल्याण करना है तो उसके लिए अहिंसा का पालन सर्वथा अनिवार्य है। जहां अहिंसा है वही सत्य है। सत्य पालन के लिए अचौर्य व्रत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत इन सब व्रतो की मूलधुरा है। अपरिग्रह अर्थात् संग्रह वृत्ति का निरोध-जीवन शाति का मूल मत्र है। भगवान् पार्श्वनाथ के शासन तक चतुर्याम धर्म का प्रचलन था। भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार उसे पंच महाव्रत के रूप से प्रचारित तथा प्रसारित किया।

भगवान् महावीर की अहिंसा प्रधान उपदेश प्रणाली ने आचार मार्ग को एक अहिंसात्मक व्यवहारिकता प्रदान की। भगवान् के समस्त सिद्धान्तो को मुख्यतया हम चार विभागो में समझ सकते हैं। उनमे सर्व प्रथम है अहिंसावाद। किसी भी जीव को मन, वचन, तथा शरीर से कोई भी दुख न देना अहिंसा की साधारण परिभाषा है। कृत, कारित और अनुमोदित इन तीन रूपो मे उसका सूक्ष्म महत्व निहित है।

दूसरा है कर्मवाद। यह जीवात्मा अनादि कालसे आठ कर्मो के बधनो मे बंधा चला आ रहा है। समस्त कर्मों से मुक्ति ही आत्मा की सर्वोत्कृष्ट दशा है। कर्म मुक्ति से ही आत्मा परमात्मा बनता है। तीसरे साम्यवाद सिद्धान्त के द्वारा

भगवान ने जाति-पांति, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब और वर्ग, वर्ण तथा लिंग भेद को समाप्त करके आत्मा के असली रूप का जनता को परिचय दिया। भारत की पद दलित नारी जाति के लिए यह सिद्धान्त एक वरदान के रूप मे सिद्ध हुआ। चौथे स्याद्वाद सिद्धान्त के तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग देकर सभी झगडो को ही समाप्त कर दिया। बौद्धिक पक्ष मे 'भी' भगवान् महावीर का उपदेश समस्त संसार के लिए महान् उपकारी सिद्ध हुआ। भगवान् का कोई भी प्रवचन ऐसा नही है जो बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतरता हो

इस प्रकार भगवान् ने अपने जीवन के ४२ चातुर्मास धर्म प्रचार मे व्यतीत किये। आरम्भ से लेकर अन्त तक उनके प्रत्येक चातुर्मास का प्रचार क्रम बढता ही रहा उसमें कही भी शिथिलता नही आ पाई।

भगवान् ने अपने साधु जीवन का प्रथम चातुर्मास अस्थिग्राम मे किया था। उनका अन्तिम चातुर्मास पावापुरी के हस्तिपाल राजा की पौषध शाला मे हुआ। यही पर नौ मल्लि और नौ लच्छि राजाओ को अपना अन्तिम उपदेश देते हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या को रात्रि के चौथे पहर मे भगवान का निर्वाण हुआ। भगवान् निर्वाण के समय की उम्र ७२ वर्ष की थी।

भगवान् की सयम साधना एक आदर्श साधना थी। उनके जीवन मे असाधारण प्रभाव था। अपने प्रचारो तथा प्रवचनो में उन्होने तत्कालीन लोक भाषा का ही प्रयोग किया था, इसी करण अधिक से अधिक जनता उनके मार्ग की ओर आकर्षित हो पाई थी उस समय संस्कृत का प्रचार भी प्रचुर मात्रा मे था। किंतु उसका अध्ययन अध्यापन अधिकतर ब्राह्मणो के हाथो मे ही था।

इसलिए साधारण जनता उसे अपने आप आसानी से नही समझ सकती थी। अधिक जनता संस्कृत से अनभिज्ञ थी। दूसरी ओर भगवान् के द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा (तत्कालीन अर्ध मागधी) सब की समझ मे आने वाली सरल भाषा थी। इस भाषा मे दिया गया तत्वज्ञान सब की समझ मे आसानी से आ जाता था। यही कारण है कि उनके उपदेशो का प्रसार अति वेग के साथ जनता मे हो गया।

अन्य धर्म प्रवर्तक

भगवान् महावीर के समय मे और भी अनेक सम्प्रदाएँ भारत मे प्रचलित थी। उनके भिन्न-भिन्न सिद्धान्त थे। उन दिनों देश मे महात्मा बुद्ध का काफी प्रचार बढ रहा था। ये बौद्ध धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके पिता 'कपिलवस्तु' के राजा शुद्धोदन थे। बुद्ध की माता का नाम मायादेवी था। इन्होने ससार से विरक्त होकर राज ऐश्वर्य का परित्याग कर दिया था। अपनी पत्नि तथा पुत्र को सुप्त अवस्था मे ही छोडकर ये वनो की ओर चल पड़े और सन्यासी बन गये। महात्मा बुद्ध ने मध्यम मार्ग पर विशेष बल दिया। उनका प्रमुख सिद्धान्त "क्षणिक वाद" था। हिंसा, जातिवाद, बाह्य क्रिया काण्ड, और धर्म के नाम पर होने वाले पाखण्डो का म० बुद्ध ने भी अपनी शक्ति के अनुसार विरोध किया था। महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर का आपस में साक्षात् कार भी हुआ था, ऐसा बौद्ध धर्म ग्रथो से प्रमाणित होता है। महात्मा बुद्ध ने भी अपने प्रवचनो मे कुछ ऐसे ही शब्दो का प्रयोग किया था जैसे कि भगवान् महावीर किया करते थे। तुलनात्मक दृष्टि से भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन को इस प्रकार जाना जा सकता है—

	भग० महावीर	महात्मा बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ राजा	शुद्धोधन
माता	त्रिशला	महामाया
गोत्र	काश्यप	काश्यप
ग्राम	क्षत्रिय-कुण्ड ग्राम	कपिल वस्तु
जाति	ज्ञात	शाक्य
जन्म	ईसा से पूर्व ५९९	ई. पू. ६००
पत्नि	यशोदा	यशोधरा
संतान	प्रियदर्शना पुत्री	राहुल पुत्र
दीक्षा	३० वर्ष की उम्र मे	२९ वर्ष की उम्र मे
तप	१२।। वर्ष	६ वर्ष
ज्ञान प्राप्ति स्थान	ऋजु वालिका तट	गया
निर्वाण	वि सं. से ४७० वर्ष पूर्व	वि स से ४८५ वर्ष पूव
निर्वाण स्थान	पावापुरी	कुशीनगर
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
व्रत	पंचमहाव्रत	पंचशील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के सिद्धातो मे अनेक समानताए भी है। दोनो ही श्रमण संस्कृति के उदीयमान नक्षत्र थे। जैन सस्कृति और बौद्ध संस्कृति का मूल प्रेरणा-स्रोत लगभग एक जैसा ही है। कितने ही ऐतिहासिक विद्वान् तो यह मानते है कि महात्मा बुद्ध भगवान् पार्श्वनाथ जी की सम्प्रदाय के ही साधु थे। किन्तु श्रमण धर्म की कठिन साधना से घबराकर उन्होने बौद्ध धर्म के नाम से मध्यम मार्ग को अपनाया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् पं० धर्मानन्द कौशाम्बी ने तो अपनी 'पार्श्वनाथाचा चारयाम' नामक पुस्तक मे यहा तक प्रमाणित किया है कि

महात्मा बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ के चारयाम धर्म का ही पंचशील अथवा अष्ट अङ्ग के नाम से विकास किया है।

महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर के अतिरिक्त तत्कालीन धर्म प्रवर्तको मे मंखली पुत्र गोशालक का भी अपना एक प्रमुख स्थान था। गोशालक ने 'आजीविक' सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस सम्प्रदाय को भी उस समय मे पर्याप्त महत्त्व मिला था। सम्राट् अशोक के शिला-लेखो में 'आजीविक' सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी उनके लिए गुफाएं भेंट की थी। इन प्रमाणो से गोशालक के तत्कालीन प्रभाव का पता चलता है।

गोशाला मे जन्म लेने के कारण इसका नाम गोशाला पड़ा था। वास्तव में ये यह भिक्षाचार का पुत्र था। वह जितना विलक्षण था उतना ही उच्छृङ्खल भी था। उसे भगवान् महावीर से ज्ञान की प्राप्ति हुई थी किन्तु प्राप्त ज्ञान के घमंड के कारण उसके विचार पलट गए। वह अनुमानतः छ वर्ष तक भगवान् के साथ रहा और बाद में उनसे पृथक् हो गया। अलग होकर इसने आजीविक सम्प्रदाय की स्थापना की इसका मुख्य सिद्धान्त नियतिवाद था। गोशालक के जीवन काल में तो यह सम्प्रदाय कुछ कुछ पनपा भी परन्तु मृत्यु के बाद तो इसका प्रभाव दिनो दिन कम होता चला गया। आज तो उसका नाम मात्र ही शेष है प्रसिद्ध जैन आगम भगवती सूत्र मे गोशालक का वर्णन विस्तार पूर्वक दिया गया है।

इसके अतिरिक्त 'पूर्ण काश्य' ने अक्रियावाद की, ककुद कात्यायन ने शाश्वतवाद की, अजितकेशकम्बली ने उच्छेद-

वाद या भूत वाद को, और संजय वेलट्टिपुत्त ने अनिश्चितवाद की स्थापना की।

इन सभी धर्म प्रवर्तकों के साथ भगवान् महावीर का दार्शनिक आचार-विचार विषयक मतभेद था। आचार मे अहिंसा और विचार मे 'अनेकान्त' ये दोनो ही भगवान् महावीर के मुख्य सिद्धान्त हैं।

भ० महावीर की शिष्य परम्परा

भगवान् महावीर के शिष्य परिवार का हम पिछले पृष्ठो मे सकेत कर आये हैं। उनमे कुछ विभूतिया ऐसी हैं, जिनका भारतीय संस्कृति पर विशेष उपकार है। उन विभूतियो के आत्म-बलिदान ने श्रमण परम्परा को जो गौरव प्रदान किया है वह कभी भी भुलाया नही जा सकता। आज जिस किसी भी रूप मे 'जैन-साहित्य' अथवा 'जैन आगम परम्परा' हमे प्राप्त है, उसमे इन महान् आत्माओ का विशेष योगदान रहा है।

गौतम गणधर

इनका मूल नाम इन्द्रभूति था। गौतम इनका गोत्र था। ये अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित थे। जैन आगमो मे स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख मिलता है। आप मगध की राजधानी राजगृह के पास गोबर ग्राम के रहने वाले थे। जैन परम्परा मे गौतम को लब्धियो का भण्डार माना है। आगम साहित्य का अधिकांश भाग महावीर और गौतम के सम्वाद रूप मे है। गौतम और महावीर के ये प्रश्नोत्तर मानव जीवन की गुत्थियो को बडे ही सहज भाव से सुलझाते हैं। भगवान् महावीर के प्रति गौतम का अटूट अनुराग था। वे चार ज्ञान, चौदह पूर्व के धर्ता थे। अपने

समय के घोर तपस्वी थे। गौतम के जीवन मे एक से बढकर एक विशेष गुण थे। उनका पाण्डित्य महान् था फिर भी उनमे अहंकार नही था। सदा सत्य को स्वीकार करना उनकी विशेषता थी। वाणिज्य ग्राम के आनन्द गाथापति को अवधिज्ञान होने पर भी एक बार गौतम ऐसा कह बैठे कि श्रावक को इतना बड़ा अवधि ज्ञान नही हो सकता। भगवान् के पास जाते ही गौतम को अपनी भूल का ज्ञान हो गया। वे उसी घडी श्रावक से क्षमा याचना करने आनन्द के घर आये। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि गौतम विनय की साक्षात् मूर्ति थे।

गणधर गौतम विद्वान् तो थे ही, साथ ही साथ उनमे 'प्रतिबोध देने की भी विलक्षण प्रतिभा थी। पृष्ठ चम्पा के गांगील नरेश को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् महावीर ने गौतम को ही भेजा था। अष्टापद पर्वत से उतरते हुए पन्द्रह सौ तीन तापसो को गौतम ने ही अपने सहज प्रतिबोध के द्वारा श्रमण धर्म मे दीक्षित किया था।

प्रतिबोधन शक्ति के साथ-साथ उनकी समन्वयात्मक विचार धारा भी विशेप महत्व की थी। भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार श्रमण को पाच सौ शिष्यो सहित महावीर सघ मे सम्मिलित करने का श्रेय भी गौतम स्वामी को ही प्राप्त हुआ था। उत्तराध्ययन सूत्र के २३वे अध्याय मे केशी गौतम सम्वाद का वड़ा ही रोचक तथा तात्विक विवेचन मिलता है।

भगवान् महावीर के शासन में गौतम ही सर्वोपरि संघ-संचालक माने गये हैं। चारो तीर्थों का पूर्ण उत्तर-दायित्व उन्ही के हाथों मे था। जब श्री गौतम को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया

तो उन्होने संघ का समस्त उत्तर-दायित्व पंचम गणधर श्री सुधर्मा को सौंप दिया। जैन परम्परा के अनुसार केवली भगवान् संघ का संचालन नही करते। क्योंकि उस समय उनकी वीतराग अवस्था होती है। सघ का समस्त दायित्व छद्मस्थ मुनिराज ही वहन करते है।

गौतम ने ५० वर्ष की आयु मे दीक्षा ली थी। ३० वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे थे और बारह वर्ष तक केवली पर्याय निभाकर अन्त मे सत्य धर्म का निर्भीक प्रचार करते हुए राजगृह नगर के वैभारगिरि पर्वत पर मुक्त हुए।

गणधर सुधर्मा

ये कोल्लाक सन्निवेश के अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका जन्म विक्रम से ५५१- वर्ष पूर्व हुआ था। ये भी श्री इन्द्रभूति के साथ ही भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुये थे। ये अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। श्रमणसघ–परम्परा मे आर्य सुधर्मा को सर्वप्रथम आचार्य माना गया है। भगवान् महावीर के शासन को सत सुधर्मा ने बडी ही कुशलता से चलाया था। गौतम को केवल ज्ञान होने पर संघ का उत्तर-दायित्व आप पर आ गया था। ग्यारह गणधरो मे से पहिले और पाचवे को छोडकर शेष नौ गणधर तो भगवान् के सन्मुख ही निर्वाण प्राप्त कर गए थे। अस्तु। गौतम स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद श्री सुधर्मा को सघ-संचालन का अधिकार प्राप्त हो गया था। स्थविर–परम्परा में श्री सुधर्मा स्वामी को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। आप द्वादशाङ्गी वाणी के अनन्य श्रोता है। गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने जो भी कुछ कहा है उसे श्री सुधर्मा ने बडे ही ध्यान से सुना है। तभी तो आगम मे

से अनबन हो जाने के कारण प्रभवकुमार अपने ४६६ साथियों को साथ लेकर राज्य से निकल पड़े। अमीरों को लूटना और उनका धन गरीबों में बांटना यह इनका प्रमुख कार्य था। जनता में चारों ओर इनका आतंक छाया हुआ था। घूमते-घामते, लूट मार करते एक बार प्रभवकुमार राजगृही नगरी में आ पहुंचे। यहां जम्बूकुमार और उनकी पत्नियों के सम्वाद को सुनकर इनका हृदय पलट गया। अपने चोरी कर्म से इन्हें घृणा हो गई और अन्त में जम्बू कुमार के साथ भगवान् सुधर्मास्वामी के पास दीक्षित हो गए। अब दस्युराज प्रभव ऋषिराज प्रभव हो गए। प्रभव मुनि अपने समय के उग्रतपस्वी तथा आगमाभ्यासी थे, जम्बूस्वामी के शासन में अनेक राजा-महाराजा भी दीक्षित थे किन्तु पट्टधर होने का जो गौरव इन्हें प्राप्त हुआ वह अन्य किसी को नहीं मिला। श्री जम्बूस्वामी के केवली होने के बाद श्री प्रभव ही संघ के आचार्य बने।

तीस वर्ष की आयु में आपने दीक्षा ली थी और २० वर्ष तक तपश्चरण तथा ज्ञानाभ्यास करके ५० वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। वीर सम्वत् ७५ में १०५ वर्ष की आयु पूर्ण करके आप स्वर्गवासी हुए। अनेक इतिहासकार इनका स्वर्गवास-स्थान 'मथुरा' नगरी मानते हैं।

आर्य शय्यंभवाचार्य

आप राजगृही के निवासी वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। एक समय आप एक यज्ञ कर रहे थे, उन्हीं दिनों आपकी आचार्य प्रभव से भेट हुई। जैनाचार्य प्रभव के उपदेशों से प्रभावित होकर आप मुनि-धर्म में दीक्षित हो गए।

दीक्षा लेते समय आपकी पत्नी गर्भवती थी। बाद में इनके 'मनक' नामक पुत्र हुआ। एक बार चम्पा नगरी मे, पिता और पुत्र की भेट हुई। पिता के त्याग वैराग्य से प्रभावित होकर 'मनक' ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

अपने ज्ञान मे पुत्र की आयु केवल छ मास की शेष जानकर आपने उसे अल्प काल में ही साध्वाचार का ज्ञान कराने के लिए पूर्वसाहित्य मे से 'दशवैकालिक सूत्र' का संकलन किया। दशवैकालिक सूत्र का रचनाकाल वीर-निर्वाण सम्वत् ८२ के आस-पास माना जाता है। यह एक प्रारम्भिक आचार शास्त्र है। आज भी प्रत्येक दीक्षार्थी को यह शास्त्र सर्वप्रथम पढाया जाता है।

श्री प्रभवस्वामी के बाद आर्य शय्यंभव आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आपने २८ वर्ष की आयु मे दीक्षा ली, ३४ वर्ष तक सामान्य मुनि-जीवन व्यतीत किए, और २३ वर्ष तक युग-प्रधान आचार्य पद पर रहे। इस प्रकार ८५ वर्ष की आयु पूर्ण करके वीरनिर्वाण सम्वत् ६८ मे स्वर्गवासी हुए।

आर्य यशोभद्र

आर्य यशोभद्र तु गियायन गोत्र के विद्वान् ब्राह्मण थे। अपने समय के ये वेदो के प्रकाण्ड पण्डित थे। आप आचार्य शय्यभव के शिष्य थे। आचार्य यशोभद्र के जीवन के विषय मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही होती। प्राचीन इतिहास से इतना अवश्य संकेत मिलता है कि विदेह मगध, और अंग आदि देशो मे आपने अहिंसा धर्म का अथक प्रचार किया था। तत्कालीन राजा नन्द के वंश पर आपका विशेष प्रभाव था।

आर्य यशोभद्र ने २२ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ली थी और

६४ वर्ष तक निर्दोष संयम का पालन किया। ३६ वर्ष की अवस्था मे आप आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। अन्त मे ८६ वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हुआ। इनका स्वर्गगमन-काल वीर सम्वत् १४८ माना जाता है।

आर्य सम्भूतिविजय

ये यशोभद्र जी के शिष्य थे। जाति से माठरगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका पाण्डित्य बड़ा ही विशाल था। ब्रह्मचर्य को साक्षात् प्रतिमा थे। श्री स्थूलिभद्र जी आपके ही शिष्य थे। आपका शिष्य परिवार बहुत ही विस्तृत था। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके प्रमुख शिष्यो का उल्लेख मिलता है। पाटली पुत्र के महामंत्री शकडाल की सातो पुत्रियाँ भी आपके उपदेश से प्रव्रजित हुई थी। ये सातो स्थूलिभद्र की बहिने थी।

श्री सम्भूति विजय जी ने ४२ वर्ष की आयु मे दीक्षा ली और ४८ वर्ष तक साधु-पर्याय मे रहे। आठ वर्ष-तक आप युगप्रधान आचार्यपद पर रहे और अन्त मे वीर सम्वत् १५६ मे ९० वर्ष की पूर्ण आयु में स्वर्गवासी हुए। महा प्रभावक आचार्य भद्रबाहु स्वामी आपके ही लघु गुरुभ्राता थे।

यहा यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भगवान् महावीर से लेकर अब तक श्रमण-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आरही थी। उसमे कोई भेद-भाव नही था। श्रमणो के समान ही श्रमणी वर्ग का संगठन भी सुचारु रूप से चल रहा था, मूल आगमो मे केवल दो ही प्रकार के साधकों का उल्लेख मिलता है। एक सचेलक दूसरे अचेलक। भगवान् महावीर के समय मे भी ये दोनो ही साधना दशाये थी। उस समय कुछ साधु सचेलक (सवस्त्र) भी थे। संभव है यह सचेलक और अचेलक परम्परा ही आगे चलकर दिगम्बर और श्वेताम्बर का रूप ले गई हो।

प्रकरण तीसरा

आचार्य भद्रबाहु स्वामी

आर्य भद्रबाहुस्वामी मौर्य चन्द्रगुप्तकालीन थे । सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु स्वामी के अनन्य उपासक थे। अनेक इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भद्रबाहु स्वामी के प्रभाव से ही चन्द्रगुप्त जैन धर्म के श्रद्धालु बने थे।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी आर्य यशोभद्रजी के शिष्य थे। ये प्राचीनगोत्रीय ब्राह्मण थे । दर्शनशास्त्र तथा ज्योतिष विद्या के उद्‌भट विद्वान् थे। प्रतिष्ठानपुर नामक नगर मे आपका जन्म हुआ था। श्रुतकेवली-परम्परा मे ये पंचम श्रुतकेवली माने जाते है। चतुर्दश पूर्व ज्ञान के धारक थे। इनके बाद कोई भी चतुर्दश पूर्वधारी नही हुआ। इसीलिए इन्हे अन्तिम श्रुतकेवली कहा जाता हैं। आजकल पर्यूषण पर्व के दिनो मे पढा जाने वाला कल्पसूत्र इन्ही के द्वारा रचित है। उपसर्गहर स्तोत्र के भी आप ही रचयिता हैं। आपने आगम पर अनेक अर्धमागधी-प्राकृत भाषा मे टीकाएँ की हैं। आपकी तत्त्व-विवेचन शैली बड़ी ही विलक्षण है।

अनेक सूत्र, निर्युक्ति तथा स्तोत्रो के साथ-साथ आपने कथा-साहित्य भी लिखा था। सवा लाख गाथाओ मे वासुदेव-चरित्र आपका ही लिखा हुआ है। आपने भद्रबाहुसंहिता नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ का भी निर्माण किया था।

वराहमिहिर संहिता के निर्माता श्री वराहमिहिर आर्य भद्रबाहु के छोटे भाई थे। दोनो भाइयो ने साथ-साथ ही दीक्षा ली थी। स्थूलिभद्र को आचार्य पद देने के कारण वराहमिहिर ने साधु-वेष छोड दिया था और वह भद्रबाहु का विरोध करने लगा था।

वीर सम्वत् १५५ के आस-पास भारत से नन्द-साम्राज्य प्राय समाप्त हो चुका था और मौर्य चन्द्रगुप्त का शासन स्थापित हो चुका था। इन्ही दिनो देश मे बारहवर्षीय दुष्काल पड़ा। दुष्काल के कारण साधुसघ कलिग मे चला गया। दुष्काल की समाप्ति पर पाटलीपुत्र मे आर्य स्थूलिभद्र की अध्यक्षता मे एक विशाल परिषद् एकत्रित हुई। परिषद् ने यथामति एकादश अङ्गों का सकलन तो कर लिया परन्तु बारहवा दृष्टिवाद शास्त्र किसी को याद नही था। इसके पूर्ण ज्ञाता उस समय केवल भद्रबाहुस्वामी ही थे। वे उन दिनो नेपाल मे महाप्राण साधना मे लीन थे। पाटली पुत्र परिषद् ने भद्रबाहु स्वामी को बुलाने के लिए दो साधु नेपाल भेजे। किन्तु भद्रबाहु स्वामी ने यह कहकर उन्हे वापिस कर दिया कि मै महाप्राण साधना कर रहा हूँ अत आने मे असमर्थ हूँ। श्रमण सघ को भद्रबाहू स्वामी के इस उत्तर से बडी निराशा हुई। उसने दो साधुओ के साथ फिर यह सदेश भिजवाया कि सघ की आज्ञा न मानने का क्या दण्ड होता है? भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर मे कहलवाया कि सघ की आज्ञा न मानने वाले को संघ

से वहिष्कृत कर देना चाहिए । मैं स्वय भी इस दण्ड का भागी हूँ, परन्तु यदि कृपा करके संघ मेरे पास योग्य मुनिराजो को भेज दे तो मैं उन्हे दृष्टिवाद का ज्ञान भी दे सकूँगा । और अपनी महा-प्राण साधना भी करता रहूँगा । इस पर सघ ने स्थूलिभद्र के नेतृत्व मे ५०० मुनियो को नेपाल मे भद्रबाहु स्वामी के पास भेजा । शेष साधु तो कष्टो से क्लान्त होकर मार्ग मे ही रह गए । केवल स्थूलिभद्र हो नेपाल पहुँचे । स्थूलिभद्र ने आठ वर्ष मे आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया । एक दिन उन्होने भद्रबाहु स्वामी से पूछा कि भगवन् ! अभी कितना अध्ययन और शेष है ? उत्तर मे भद्रबाहु स्वामी ने कहा, वत्स ! अभी तो तूं विशाल समुद्र में से केवल एक बिन्दुमात्र ही पढ पाया है । अभी तो बहुत अध्ययन शेप है । स्थूलिभद्र ने अब और सजग होकर पढ़ना आरम्भ किया । अब तक वे केवल दो वस्तु न्यून दसवे पूर्व तक ही अध्ययन कर पाये । आगे अध्ययन नही कर सके । कुछ इति-हासकार ऐसा भी कहते है कि स्थूलिभद्र ने १० पूर्व तक तो अर्थ-सहित अध्ययन किया था, शेष चार पूर्व केवल मूल ही पढ़े थे । कुछ भी हो वे चौदह पूर्व का ज्ञान सर्वार्थरूप से ग्रहण नही कर सके । अत. भद्रबाहु स्वामी ही अर्थ–सहित चतुर्दश पूर्व के पूर्ण ज्ञाता रहे । इनके बाद चतुर्दश पूर्व की ज्ञान-परम्परा लुप्त हो गई ।

चन्द्रगुप्त राजा के द्वारा देखे गए १६ स्वप्नो का फल भी भद्रबाहु स्वामी ने ही बताया था । जिसमे वर्तमान पंचमकाल की स्थिति का वडा ही स्पष्ट वर्णन हैं । भद्रबाहु स्वामी की पूर्व पट्ट-परम्परा के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर मान्यताएं भिन्न-भिन्न है । दोनो की पट्ट-परम्परा मे नामो का भी अन्तर है । काल-गणना मे अन्तर है । पीछे कुछ भी अन्तर रहा हो पर भद्र-बाहु स्वामी को दोनो परम्पराएं पंचम श्रुत केवली मानती हैं ।

श्री भद्रबाहु ४५ वर्ष तक गृहस्थ मे रहे। ६२ वर्ष की आयु मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ३१ वर्ष आपने शुद्ध सयम का पालन किया। अन्त मे ७६ वर्ष की पूर्ण आयु मे वीर सम्वत् १७० मे आपका स्वर्गवास हुआ।

तत्कालीन संघ स्थिति

श्री भद्रबाहु स्वामी और मगध के सम्राट् चन्द्रगुप्त दोनो समकालीन थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु स्वामी के अनन्य उपासक थे। किसी किसी इतिहासकार ने तो उनका भद्रबाहु स्वामी के पास दीक्षित होना भी स्वीकार किया है। इतना तो अवश्य है कि चन्द्रगुप्त के सहयोग से मगध और उसके आस-पास जैन धर्म का प्रचार अनथक रूप से हुवा था। जहा तक तत्कालीन संघ-स्थिति का प्रश्न है, उस समय का सघ अत्यत सुदृढ था। तत्कालीन श्रावक समाज भी अत्यन्त सुदृढ था। भद्रबाहु जैसे चतुर्दश पूर्वधारी युगप्रधान आचार्य की इच्छा न होने पर भी सघ की आज्ञा को शिरोधार्य करना, संघ सम्मान का ज्वलंत प्रमाण है। उन दिनो भद्रबाहु कर्नाटक मे थे और मगध मे स्थूलिभद्र। दोनो ही विभूतियो के सम्मान को संघ ने बडी ही दूरदर्शिता के साथ सुरक्षित रखा। उस समय का श्रावक सघ अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझता था। संघ की समयज्ञता और सुसगठन के कारण कर्नाटक और मगध का पृथक् स्थान अस्तित्व मे होने पर भी दो आचार्य नही होने पाये। मगध के श्रावक सघ ने भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास के बाद ही स्थूलि भद्र को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

आचार्य स्थूलि भद्र

ये नौवे नन्द राजा के मत्री शकडाल के पुत्र थे। आचार्य

सभूति विजय के पास आपने जैन मुनि दीक्षा धारण की थी। आप गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे । आपके छोटे भाई का नाम "श्रेयक" था। उन दिनो पाटलीपुत्र में कोशा नाम की एक प्रसिद्ध सुन्दरी वेश्या रहती थी। स्थूलिभद्र एक दिन कोशा के रूपजाल मे फँस गये और पूरे बारह वर्ष तक आप वेश्या-विलास से न मुड सके। इसी बीच मे तत्कालीन महा पण्डित वररुचि के षड्यत्र से महामत्री शकडाल अपने ही पुत्र श्रेयक के हाथो मारे गए। स्थूलिभद्र के सन्मुख नन्द साम्राज्य के महामंत्री पद का प्रस्ताव आया। किन्तु पितृ-वियोग ने एक झटके मे स्थूलिभद्र के मन-मानस को बदल दिया और वे आचार्य संम्भूतिविजय के पास दीक्षित हो गए।

गुरु की आज्ञा से स्थूलिभद्र जी ने अपना प्रथम वर्षावास (चातुर्मास) कोशा वेश्या के महलो मे ही बिताया। कोशा ने स्थूलिभद्र को अपनी ओर आकर्षित करने के अनेक प्रयत्न किये किंतु उसके सब प्रयत्न असफल रहे। स्थूलिभद्र की इस दृढता ने कोशा के जीवन को बदल दिया और वह श्राविका बन गई।

चातुर्मास समाप्त होने पर स्थूलिभद्र गुरु के चरणो मे उपस्थित हुए। उन्हे चातुर्मास की सफलता तथा कोशा के जीवन-परिवर्तन के कारण गुरुजी की ओर से विशेष प्रशसा प्राप्त हुई। चातुर्मास तो अन्य मुनियो ने भी किए थे। किसी ने सापकी बम्बी पर किसी ने कुएँ की कोठ पर और किसी ने सिंह की गुफा के सामने। सिंह की गुफा के सामने चातुर्मास करने वाले मुनि स्थूलिभद्र की विशेष प्रशसा सुनकर क्षुब्ध होगए। इसबार वे स्वय चातुर्मास करने कोशा के यहां आये। किंतु एक ही झटके मे सिंह, शृगाल बन गया। मुनि जी अपने मार्ग मे विचलित हो उठे।

कोशा की शिक्षा-भरी फटकार ने उन्हे पुनः जागृत किया। वे सीधे श्री गुरुचरणो मे आये और आत्म-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेकर कठोर संयम-साधना मे सलग्न हो गए।

स्थूलिभद्र सर्वोत्तम साधक होने के साथ २ परम प्रभावशाली शास्त्रज्ञ भी थे। वे भद्रबाहु स्वामी से दश पूर्वो की सार्थ तथा चार पूर्वों की मूल राशि प्राप्त करने की शक्ति के धनी थे। वे योग विद्या के भी प्रकाण्ड पडित थे। एक बार उनकी सात बहनें दर्शनार्थ उनके पास आई तो स्थूलिभद्र जी विकराल सिंह का रूप धारण करके बैठ गए। उनको बहिने जो साध्वी रूप मे थी, डर कर वापिस चली गईं। भद्रबाहु स्वामी ने इस चमत्कार-प्रदर्शन के कारण ही उन्हे पूर्वो का सम्पूर्ण अध्ययन नही कराया। उनकी यक्षा आदि बहिनो ने भी सूत्रो की अनेक चूलिकाएँ लिखकर आगम साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना सहयोग दिया।

आचार्य स्थूलिभद्र का प्रभाव बडा ही विशाल था। आर्य हागिरि और आर्य सुहस्ति आपके ही शिष्य थे। आपने अपने जीवनकाल मे अनेक भव्यात्माओ को जैन धर्म मे दीक्षित किया था। न द राज्य का उच्छेद और मौर्य साम्राज्य की स्थापना आपके ही सामने हुई थी। चन्द्रगुप्त बिन्दुसार, अशोक और कुणाल आपके समकालीन थे। कौटिल्य अर्थ शास्त्र के निर्माता महा-पण्डित चाणक्य भी आपके तपोमय जीवन से प्रभावित हुआ था।

आपका जन्म वीरसम्वत् ११६ मे हुआ था और ३० वर्ष की अवस्था मे आपने दीक्षा ली थी। वीर सम्वत् १६० मे आप आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हुए तथा वीर सम्वत् २१५ में १५ दिन के अनशन से वैभार गिरिपर आपका स्वर्गवास हुआ।

श्रीभद्रबाहु स्वामी के स्वर्ग के पश्चात् उनकी सेवा मे रहने वाले परम पण्डित विशाखाचार्य जब मगध मे आये तो उन्होने यहा साधुवो को उद्यानो और शहरों मे रहते हुए देखा। वे स्वयं अब तक जगलो में ही संयम आराधना करते आये थे, अत: यहा के साधुवो का व्यवहार-आचार उन्हे शिथिल सा जचा। इस विषय मे उनका आचार्य स्थूलिभद्र के साथ भी विस्तृत वार्तालाप हुआ, पर निष्कर्ष कुछ न निकल सका। विशाखाचार्य 'जिन कल्प' वृत्ति के हिमायती थे। स्थविर कल्प उनकी दृष्टि मे उचित नही था। संघ ने उन्हे कितने ही शास्त्रीय प्रमाणो से समझाया कि श्री जम्बू स्वामी के वाद से जिन कल्प का विच्छेद हो गया है। आचाराङ्ग आदि शास्त्रो के उद्धरण भी उनके सम्मुख रखे गये। केशी कुमार और गौतम जी के सम्वाद का वर्णन भी उन्हे सुझाया गया, किन्तु वे अपनी वात से बिलकुल भी न हिले। परिणामत: उन्होने अपने साधुवो को तत्कालीन श्रमण वर्ग से अलग कर लिया। यहां यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि विशाखाचार्य अपने साधुवो के साथ श्रमण वर्ग से अलग अवश्य हो गए—पर उन्होंने कोई अलग सम्प्रदाय स्थापित नही किया। वे कठोर से कठोर साधना के लिए अपने संतो को प्रेरणा देते रहे।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि विशाखाचार्य और स्थूलिभद्र के मत-भेद के कारण ही संघ मे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर नाम के दो वर्ग हो गए।

आचार्य महागिरि

आचार्य महागिरि अपने समय के बडे ही प्रभावशाली महापुरुष थे। आपने श्री जम्बूस्वामी के युग से विच्छिन्न हुई जिनकल्प साधना को विशेष रूप से अपनाया था। स्वयं आर्य

महागिरि और उनके शिष्य बडा कठोर संयम-साधना के धनी थे। नग्नता, वन-विहरण, कठोर तप तथा सर्वदा आत्म-चिन्तन मे रत रहना आदि उनके विशेप गुण थे। आचार्य स्थूलिभद्र जी के शिष्यो मे आपका सर्वप्रथम स्थान था।

इनका जन्म वीर सम्वत् १४५ मे हुआ था। १७५ वीर सम्वत् में आपने दीक्षा ली थी और २१५ वीर सम्वत् मे आचार्य पद पर स्थापित हुए। वीर सम्वत् २४५ मे सौ वर्प की आयु पूर्ण कर दशार्णपुर (मन्दसौर मालवा) मे आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य सुहस्ति

आर्य सुहस्ति भी आचार्य स्थूलिभद्रजी के शिष्यरत्न थे। आर्य महागिरि ने 'जिनकल्प' अपनाते समय अपना समस्त उत्तरदायित्व आचार्य सुहस्ति को सौंप दिया था। आचार्य सुहस्ति आजीवन स्थविर कल्प मे ही रहे थे। अपने जीवन-काल मे आपने अनेक ग्राम नगरो का उद्धार किया था। कुणाल पुत्र सम्प्रति इन्ही के प्रभाव मे जैन धर्मावलम्वी बना था। सम्प्रति अपने समय का बडा ही धर्मात्मा तथा दयालु प्रकृति का नरेश था। जनता के हितार्थ उसने ७०० दानशालाएं खोल रखी थी। जैन धर्म के प्रचार मे इसका विशेष-योग रहा है। भारत तथा भारत के वाहर ब्रह्मा, आसाम तिब्बत, अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की, और अरव मे सम्राट् सम्प्रति के प्रयत्नो से जैन धर्म का प्रचार हुआ था। सम्प्रति का जन्म ई पू. २५७ और वीर सम्वत् २७० मे हुआ था। वीर-सम्वत् २८५ मे उन्होने आवन्ती राज्य सम्भाला था। २९२ मे मगध सम्राट् वने। आचार्य सुहस्ति की शिष्य परम्परा वहुत ही विस्तृत थी।

इनका जन्म वीर सम्वत् १६१ मे हुआ था। वीर सम्वत् २१५ मे दीक्षा तथा २४५ मे आचार्य पद और २६१ मे सौ वर्ष की आयु पूर्ण करके उज्जयिनी मे स्वर्गवासी हुए ।

आचार्य सुहस्ति के पश्चात् इतिहास मे अनेक आचार्यो के नाम आते है। कुछ विद्वानो का मत है कि ग्यारहवें पाट पर आचार्य गुणसुन्दरजी हुए। किन्तु कल्पसूत्र स्थविरावली तथा नन्दी सूत्र स्थविरावली आदि मे भी गुणसुन्दरजी का नाम कही दृष्टि-गोचर नही होता। आचार्य सुस्थित तथा आचार्य सुप्रतिबद्ध का क्रमश नाम अनेक पट्टावलियो मे मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य सुहस्ति के बाद सघ मे आचार्य-परम्परा अलग अलग विभक्त हो गई होगी। इतिहासकारो को इस ओर विशेष प्रयत्न करना चाहिए ताकि आचार्य सुहस्ति के बाद के आचार्य का निश्चित नाम लिया जा सके।

आचार्य सुस्थित

ये आचार्य सुहस्ति के प्रमुख शिष्य थे। काकन्दी नगरी के व्याघ्रापत्य राजकुलोत्पन्न थे। अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् संत थे। आपने भुवनेश्वर (उडीसा) के निकट कुमार गिरि पर्वत पर घोर तपश्चरण किया था। आपकी तत्त्वनिरूपण शैली बडी विलक्षण थी। सघ ने सर्वानुमति से आपको ही गच्छनायक के रूप मे स्वीकार किया।

आचार्य सुस्थित ने ३१ वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी और १७ वर्ष तक सामान्य रूप से सयम व्रत का पालन किया। अपने जीवन काल मे आप ४८ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त मे ९६ वर्ष की सर्वायु पूर्ण करके वीर सम्वत् ३३९ मे कुमार गिरि पर्वत पर स्वर्गवासी हुए।

आचार्य सुप्रतिबद्ध

ये आचार्य सुस्थित के सगे भाई थे। आपका वर्चस्व बडा ही चमत्कारी था। आपके जीवन-काल मे कुमार गिरि पर्वत पर एक लघु श्रमण सम्मेलन हुआ था। द्वितीय आगम वाचना का यही से सूत्र पात हुआ। जैन इतिहास मे आप वाचनाचार्य की उपाधि से विशेप प्रसिद्ध है। आचार्य सुहस्ति आपके दीक्षा-गुरु थे।

उस समय कलिंग (उडीसा) मे वैशाली गणतन्त्र के अधिनायक चेटक के सुपुत्र शोभन राज के राजवंश का शासन चल रहा था। आगे चलकर यवन-विजेता महामेघ वाहन खारवेल भी इसी वश मे हुए। ये सम्राट् भिक्षुराज के नाम से प्रसिद्ध थे। जैन धर्म मे इनकी विशेष श्रद्धा थी। कुमार गिरिपर्वत पर इन्होने अपने जीवन काल मे अनेक जैन गुफाओ का निर्माण करवाया था। हाथी गुफा मे ब्राह्मी लिपि मे मागधी भाषा का शिलालेख विशेष रूप से द्रप्टव्य है। इन गुफाओ का वातावरण बड़ा ही शान्त है।

आचार्य सुप्रतिबद्ध के स्वर्गवास काल का आधुनिक इतिहास स्पप्ट तथा निश्चित उल्लेख नही मिलता। आचार्य सुस्थित के बाद जैन श्रमणसंघ के ये महाप्रभावक आचार्य हुए है।

आचार्य इन्द्र दिन्न

इनका शुद्ध सस्कृत नाम इन्द्रदत्त प्रतीत होता है। आप कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। कुछ इतिहासकार इन्हे आचार्य सुस्थित का शिष्य मानते है और कुछ इन्हे आचार्य सुप्रतिवद्ध

का शिष्य होना स्वीकार करते हैं। इनमे अन्त का दूसरा मत विशेष प्रामाणिक जँचता है। तत्कालीन आर्यप्रियग्रन्थ आपके गुरु-भ्राता थे। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नही है।

आचार्य दिन्न

आचार्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आर्यदिन्न स्वामी गच्छ-नायक हुए। आप गौतमगोत्रीय थे। इतिहास मे आपके शिष्य-मण्डल आर्य शान्ति श्रेणिक तथा आर्य सिंहगिरि इन दो प्रमुख शिष्यो के उल्लेख के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट जानकारी नहीं मिलती। दक्षिण मे कर्नाटक पर्यन्त सुदूर प्रदेशो मे भ्रमण करके आपने अहिंसा धर्म का प्रचार किया था। आपके आस-पास ही आर्यकालक तथा सिद्धसेन प्रमुख महाप्रभावक आचार्यों का उल्लेख मिलता है।

जैन इतिहास मे आर्यकालक के नाम से चार आचार्य प्रसिद्ध हुए है। इनमें मे प्रथम कालक को श्यामाचार्य के नाम से ख्याति हुई। ये प्रज्ञापना सूत्र के रचनाकार माने जाते हैं। आप तत्कालीन युगप्रधान 'गुणाकार' सूरि (आचार्य मेघगणि के शिष्य माने जाते है। वीर सम्वत् २८० में आपका जन्म, ३०० मे दीक्षा, ३३५ मे युगप्रधान पद तथा ३७६ मे स्वर्गवास हुआ।

द्वितीय कालकाचार्य धारानगरी के राजा वीरसिंह के पुत्र थे। सुरसुन्दरी इनकी माता का नाम था और सरस्वती इनकी छोटी बहिन थी। ये दोनो भाई बहिन साथ-साथ ही श्रमण सघ मे दीक्षित हो गये थे। सरस्वती साध्वी बडी ही रूपवती थी। एक बार उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती के रूप पर मोहित होकर उसे अपने अनुचरो द्वारा राज महल मे बन्दिनी

वना लिया । कालकाचार्य मोहान्ध राजा गर्दभिल्ल के इस अत्याचार को सहन नही कर सके । उन्होने पहिले राजा के पास जाकर उसे समझाया कि.—साध्वी पर किया गया अत्याचार राज्य-परम्परा तथा न्याय के विरुद्ध है। गर्दभिल्ल ने आचार्य कालक की बात पर कोई ध्यान नही दिया। इस पर दूरदर्शी आचार्य ने सती साध्वो के सरक्षरण के लिए दूसरा मार्ग अपनाया। सिंधु देश के सामन्तो को संगठित करके उन्होने गर्दभिल्ल पर आक्रमरण कराया और उसका मान भग करके अपनी वहिन के सतीत्व को रक्षा का ।

कालकाचार्य द्वितोय ने अनेक देश-देशान्तरो मे जैन घर्म का प्रचार किया था। ईरान, वर्मा, आदि देशो मे इनके जाने का भी उल्लेख मिलता है। ये अपने समय के एक महा प्रभावक आचार्य हुए है। उन्होने प्रतिप्ठानपुर मे भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पर्यूपरण पर्व की आराघना को। इनका समय वीर सम्वत् ४५४ माना जाता है।

हम पीछे स्पष्ट कर आये है कि आचार्य सुहस्ति के समय मे जैन सघ मे अनेक आचार्यो की परम्पराओ का उल्लेख मिलता है। इन सभी आचार्यों ने यथाशक्ति ससार मे जैन घर्म का प्रचार किया था। किन्तु आचार-विचार विपयक मतभेद होने के काररण इनकी गुरु शिष्य-परम्पराए पृथक् पृथक् हो गई। इन परम्पराओ मे वडे वडे प्रभावक विद्वान्-सत हुए है। पाचिव शताव्दी के आसपास के संतो मे वाचक उमास्वाती का नाम विशेप रूप से आता है। अव तक जो भी साहित्य निर्मित हुआ था, उसमें अघिकता प्राकृत के ग्रन्थो की थी। संस्कृत-साहित्य निर्मारण की ओर विशेप रुचि वाचक उमास्वाति के समय से ही जागृत हुई।

तत्वार्थ सूत्र के प्रणेता के रूप मे वाचक उमास्वाति को जैन समाज के सभी सम्प्रदाय प्रारम्भ से आज तक समान रूप से मानते आये हैं। दिगम्बर उन्हे अपनी शाखा मे और श्वेताम्बर अपनी शाखा मे मानते हैं। दिगम्बर उन्हे आचार्य कुन्दकुन्द का शिष्य मानते है। जबकि स्वयं वाचक उमास्वाति ने अपनी प्रशस्ति मे दिगम्बरो की इस मान्यता के विरुद्ध अपना पृथक् तथा स्पष्ट परिचय दिया है। प्रशस्तिका सार इस प्रकार है—

"जिनके दीक्षा गुरु ग्यारह अंग के धारक घोषनन्दि क्षमण थे और प्रगुरु गुरु के गुरु, वाचकमुख्य 'शिव श्री' थे, वाचना से अर्थात् विद्याग्रहण की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक आचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे, जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे और जो "स्वाती" पिता और वात्सी माता के पुत्र थे, जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' मे हुआ था और जो 'उच्च नागर' शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक ने गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ आर्हत उपदेश को भली भाति धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रो द्वारा हत वुद्धि दु:खित लोक को देखकर के प्राणियो की अनुकम्पा से प्रेरित होकर यह 'तत्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नाम के महा नगर मे रचा है। जो इस तत्वार्थ शास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा वह अव्याबाध सुख नाम के परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करेगा।

इस प्रशस्ति मे दिये गये नाम आदि से वाचक उमास्वाति का परिचय स्पष्ट है। यहा यह जानना भी आवश्यक है कि तत्वार्थ सूत्र प्रणेता वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर आम्नाय के ही थे। क्योकि अपनी प्रशस्ति मे उन्होने अपने आपको 'उच्च नागर

शाखा' का घोषित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस नाम की कोई भी शाखा नही है।

जहा तक वाचक उमास्वाति के समय का प्रश्न है। उसके बारे में यही कहना है कि जिस शाखा का स्वय तत्त्वार्थ सूत्र प्रणेता ने अपनी प्रशस्ति मे निर्देश किया है, वह 'उच्च नागर शाखा' आर्य शान्ति श्रेणिक से निकली है। कल्पसूत्र स्थविरावली मे उक्त शाखा का उल्लेख मिलता है। आर्य शान्तिश्रेणिक आर्य सुहस्ति से चौथी पीढी मे आते है। आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न और दिन्न के शिष्य शातिश्रेणिक हैं, यह शातिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु आर्य सिह गिरि के गुरुभाई थे। आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास समय वीर स० २९१ और आर्य वज्र का स्वर्गवास समय ५८४ मिलता है। अर्थात् सुहस्ति के स्वर्गवास समय से वज्र के स्वर्गवास समय तक २९३ वर्ष के भीतर पाच पीढिया मिलती हैं।

इस प्रकार मान लेने पर आचार्य सुहस्ति की चौथी पीढी मे होने वाले श्री शातिश्रेणिक मुनि का काल वीर सम्वत् ४७१ के आस पास का बैठता है। इसी समय के आस पास 'उच्च नागरी शाखा' का उदय हुआ होगा। इन सब बातो से यही स्पष्ट होता है कि वीर सम्वत् ४७१ अर्थात् विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ के लगभग ही वाचक उमास्वाति हुए हैं। इससे अधिक उनका परिचय उपलब्ध नहीं है।

आचार्य सिंहगिरि

ये आचार्य दिन्न के शिष्य और उच्च नागरी शाखा के निर्माण कर्ता श्री शातिश्रेणिक मुनिराज के गुरुभाई थे। आप कौशिक

गौत्रीय ब्राह्मण थे । कल्प सूत्र स्थविरावलीमे इन्हे जाति स्मरण ज्ञान के धारक कहा गया है । आपके चार प्रमुख शिष्य हुए है—(१) आर्य समित (२) आर्य धनगिरि (३) आर्य वज्रस्वामी और (४) आर्य अर्हद्दत्त ?

आर्य समित का जन्म वीर सम्वत् ५८४ मे अवन्ती देश (मालवा) के तुम्ववन ग्राम मे धनपाल वैश्य के यहां हुआ था । आपकी बहिन सुनन्दा का विवाह इसी तुम्ववन के प्रसिद्ध वैश्य धनगिरि के साथ हुआ था । आर्य समित अपने समय के बडे ही योगनिष्ठ चमत्कारी महापुरूप हुए है । इससे अधिक आचार्य सिहगिरि का परिचय उपलब्ध नही है ।

आचार्य वज्रस्वामी–

आर्य समित को बहिन सुनन्दा के पति आर्य धनगिरि, अपने साले समित के साथ आर्य सिंहगिरि के पास एक साथ ही दीक्षित हो गए थे । उन दिनो सुनन्दा गर्भवती थी । उसकी कुक्षिसे 'वज्र' नाम के पुण्यवान् बालक का जन्म हुवा । एक बार मुनि धनगिरि जो भिक्षार्थ सुनन्दा के यहा गए । उन्होने ज्यो ही भिक्षार्थ पात्र आगे बढाया, सुनन्दा ने आवेश मे आकर अपने छः मास के पुत्र वज्र को पात्र मे डाल दिया और कहा—आपतो चले गए, इसे यहां क्यो छोड़ गए ? इसको भी अपने साथ ले जाओ । धनगिरि ने सुनन्दा को बहुत समभाया पर वह न मानी और अन्त मे वह नन्हे वज्र को अपने साथ अपने गुरु आर्य सिंहगिरि के पास ले गए । श्रध्दालु श्रावको की देख रेख में बालक का पालन पोषण होने लगा बालक वज्र अवसर पाकर मुनिराजो के दर्शन अवश्य किया करता था । सन्तो की वाणी ने उसका हृदय वैराग्य भाव से परिपूर्ण कर दिया और एक दिन उसे जातिस्मरण ज्ञान हो

गया । युवा होने पर आपको दीक्षा व्रत दे दिया गया । आपका मतिज्ञान बड़ा ही निर्मल था । गुरु जी भी उपदेश देते उसे ये बडी ही शीघ्रता और चतुरता से ग्रहण कर लेते थे । गुरु का उपदेश श्रवण मात्र से ही आपको समस्त शास्त्र कण्ठस्थ हो गए । यह देख कर आचार्य श्री सिंह ने आपको वाचनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया । आर्य वज्रस्वामी ने दशपुर (मन्दसौर) मे आर्य भद्रगुप्त के पास दस पूर्व का अध्ययन किया था । वज्र-स्वामी अन्तिम दशपूर्व धारी थे । इनके बाद कोई भी दशपूर्वधारी नही हुआ । आपके पश्चात् वज्रऋषभनाराच संहनन का भी विच्छेद हो गया । आपके नाम से ही 'वज्र शाखा' का प्रारम्भ हुआ । आपने अपने जीवन काल मे अनेक भव्य आत्माओ को सन्मार्ग पर लगाया था । आपकी वज्र शाखा मे वज्र नाम के अनेक प्रभावशाली विद्वान् संत और आचार्य हुए हैं ।

आचार्य वज्रस्वामी का जन्म वीर सम्वत् ४९६ (३१ई० पू०) मे तथा दीक्षा ५०४ (२३ ई० पू०) मे हुई थी । आप ३६ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे, अत मे दक्षिण के रथावर्त पर्वत पर अनशन पूर्वक वीर सम्वत् ५८४ (५७ ई०) में स्वर्ग वासी हुए ।

आचार्य वज्र सेन—

आप आचार्य वज्र स्वामी के शिष्य थे । आपका जन्म वीर सम्वत् ४९२ मे हुआ था । दीक्षा ५०१ में और आचार्य काल ५८४ वीर सम्वत्, तथा १२८ वर्ष की पूर्ण आयु मे वीर सम्वत् ६२० मे आपका स्वर्ग वास हुवा था । आपके नगेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर ये चार सहोदर बन्धु आदि प्रमुख दीक्षित शिष्य थे । इन्ही के नाम से चार गच्छो का विस्तार हुआ । इन्ही गच्छो से ८४ गच्छो की उत्पत्ति हुई ।

आचार्य वज्रसेन के समय मे भी एक वार द्वादशवर्षीय भयं-कर दुष्काल पड़ा था। कहते हैं उस दुर्भिक्ष के समय भिक्षा न मिलने के कारण ७८४ साधु अनशन पूर्वक स्वर्गवासी हो गए थे। जिनदास सेठ दुष्काल की यातनाओ से तग आकर अपने परिवार को विष देने जा रहा था। मार्ग में आचार्य वज्रसेन मिले। उन्होने शीघ्र ही सुकाल की भविष्य वाणी करके सबकी प्राण रक्षा की। कुछ समय के वाद ही दुष्काल समाप्त हो गया और देश मे सुकाल आ गया। जिनदास ने अपना समस्त द्रव्य जन कल्याण के लिए जनता को अर्पित कर दिया, और आप स्वयं नगेन्द्र, चद्र आदि अपने पुत्रो को साथ लेकर आचार्य वज्रसेन के पास दीक्षित हो गये।

आगम साहित्य के महापण्डित 'आर्य रक्षित सूरि भी आचार्य वज्रसेन के समकालीन थे। मालव प्रदेश के दशपुर [मन्दसौर] नगर के रुद्रसोम पुरोहित के घर आपका जन्म हुवा था। आपकी माता ने एक बार आपको इक्षुवन मे विराजित आचार्य तोसली पुत्र के पास दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए भेजा। आचार्य के प्रभावशाली उपदेशो को सुनकर आप उन्ही के पास दीक्षित हो गए। आप अनुयोग द्वार सूत्रके रचनाकार माने जाते है। आपने आगम साहित्य को द्रव्य, चरणकरण, गणित और धर्मकथा इन चारो अनुयोगो मे विभक्त करके शास्त्र पठन-पाठन के मार्ग को प्रशस्त किया। यह आगम सशोधन, विभाजन आदि का समस्त कार्य द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद दशपुर मे सम्पन्न हुआ था। इस आगमवाचना मे वाचनाचार्य नन्दिल-आचार्य आर्य रक्षित, और गच्छाचार्य वज्रसेन प्रमुख विद्वानो ने भाग लिया था। इस वाचना का समय वीर सम्वत् ५९२ माना जाता है।

आचार्य रथस्वामी

आचार्य वज्रस्वामी के प्रमख शिष्यो मे आपका नाम आता है आचार्य वज्रसेन आपके गुरु भ्राता थे। आप वशिष्ठगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपका दूसरा नाम आर्य जयन्त भी आता है। आपके इसी नाम से जयन्ती शाखा का उदय माना जाता है।

आचार्य रथ स्वामी के बाद के आचार्यों का विशेष परिचय नही मिलता। स्थविरावली मे केवल नाम मात्र उनका परिचय आता है, अत यहा पर हम भी केवल नामो का ही उल्लेख कर रहे हैं -

आचार्य पुष्यगिरि	कौशिक गोत्र
,, फल्गुमित्र	गौतम गोत्र
,, धनगिरि	वशिष्ठ गोत्र
,, शिवभूति	कुच्छस गोत्र
,, भद्र	काश्यप गोत्र
,, नक्षत्र	,,
,, रक्ष	,,
,, नाग	गौतम गोत्र
,, जेहिल	वशिष्ठ गोत्र
,, विष्णु	माठर गोत्र
,, कालक	गौतम गोत्र

ये तीसरे कालकाचार्य है। इनका समय वीर सम्वत् ७२० माना जाता है।

आचार्य सम्पालित तथा भद्र

ये दोनो ही महापुरुष आचार्य कालक के शिष्य थे। दोनो

बाल ब्रह्मचारी थे। आचार्य कालक के पश्चात् दोनो ही आचार्य पद पर आये। कुछ दिनो बाद दोनो का सघ एक रूप में सगठित हो गया। सघ के आचार्य आर्यभद्र मुनि बने।

इसके पश्चात् के आचार्यों का भी पूरा परिचय अनुपलब्ध है अत. यहा कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार केवल नामों का ही उल्लेख किया गया है।

आचार्यवृद्ध	गौतम गोत्र
आचार्य संघपालित	गौतम गोत्र
आचार्य श्री हस्ती	काश्यप गोत्र
आचार्य धर्म	साक्य गोत्र
आचार्य सिह	काश्यप गोत्र
आचार्य धर्म	काश्यप गोत्र

जैन इतिहास मे आर्य धर्माचार्य के प्रमुख शिष्यो मे स्कन्दिल और आर्य जम्बू के नामो का विशेष उल्लेख मिलता है। आचार्य स्कन्दिल, अपने समय के महाप्रभावक आचार्य थे। कही कही इनका मूल नाम 'सोमरथ' भी मिलता है। ये मथुरा के रहने वाले थे। आचार्य सिहसूरि के उपदेशो से इन्हे वैराग्य उत्पन्न हुआ था और आचार्य धर्मसूरि के पास इन्होने दीक्षा ली थी।

इन दिनो देश मे बडा संघर्ष चल रहा था। जैन, बौद्ध तथा वैदिक धर्म के अनुयायी बड़ी ही भयंकरता के साथ आपस मे टकरा रहे थे। विशेषकर सौराष्ट्र की स्थिति उस समय बडी विकट थी। हूण शासको और गुप्त शासको का भारत मे भयंकर युद्ध हुआ, जिसके कारण सारा देश दुष्काल-पीडित हो गया। यह दुष्काल बारह वर्ष तक रहा था। परिणामस्वरूप श्रुतधर

मुनिराजो की संख्या दिनोदिन कम हो गई। आगम साहित्य लुप्त सा होने लगा। ऐसी विकट स्थिति मे आचार्य स्कन्दिल की देख-रेख मे उत्तरापथ के मुनिराजो का मथुरा मे एक विशाल सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे आगमो को पुस्तकारुढ किया गया।

इससे पूर्व लिखित प्रणाली नही थी। आचार्य शिष्य को पढाते थे और शिष्य उसे कण्ठस्थ कर लेते थे। दूरदर्शी आचार्यों ने देखा यह प्रणाली अब अधिक दिन नही चल सकती। अत. शास्त्रो को लिपिबद्ध कर देना चाहिए। इसी निर्णय के अनुसार जिसे जो कुछ कण्ठस्थ था उसे लिख लिया गया, आचार्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में यह आगम-लेखन कार्य हुआ था, अतः इसका नाम स्कन्दिली वाचना पड गया।

दूसरी ओर सौराष्ट्र मे आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे दक्षिणापथ के मुनिराजो का एक महा सम्मेलन वल्लभी (सौराष्ट्र) मे हुआ। इसमे भी आगमो को लिखित रूप दिया गया। स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता मे होने वाली वाचना मथुरा मे हुई थी अत. उसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। नागार्जुनीय वाचना, वल्लभी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।

ये दोनो वाचनाएँ उत्तर और दक्षिण के भिन्न प्रदेशो मे हुई थी, अत इनमें पाठभेद रह जाना स्वाभाविक ही था। फिर भी शास्त्रो के लिपिबद्ध हो जाने से जनता को आगम-वाणी का महान् लाभ प्राप्त होने लगा। इन दिनो वाचनाओ के प्रचार मे तत्कालीन अनेक आचार्यो ने सहयोग दिया जिनके भिन्न-भिन्न नाम किसी-किसी इतिहास मे मिलते हैं। दोनो वाचनाओ का पाठभेद अनुमानत· ५५० वर्ष तक चलता रहा, जिसका समन्वय आगे चलकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के द्वारा हुआ।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

श्री देवर्द्धि 'वेरावल' (सौराष्ट्र) के निवासी श्री 'कामर्धि क्षत्रिय' के पुत्र थे। आपकी माता का नाम कलावती था। नन्दी की चूर्णी में इनके गुरु का नाम दुष्यगणी वताया गया है। कोई २ इतिहासकार इनके गुरु का नाम 'लौहित्य सूरि' मानते हैं। इनके शिक्षागुरु आचार्य देवगुप्त थे। श्री नन्दीसूत्र की रचना श्री देवर्द्धि क्षमाश्रमण के द्वारा ही हुई है। 'क्षमाश्रमण' इनकी उपाधि है। आप बडे ही युगप्रधान आचार्य थे। वीर सम्वत् ९८० के आस-पास वल्लभी (सौराष्ट्र) मे आपकी अध्यक्षता मे एक महा सम्मेलन हुआ। यही पर उत्तर और दक्षिण के पाठभेदो का समन्वय किया गया। इस वाचना मे चतुर्थ कालकाचार्य भी विद्यमान थे। ये नागार्जुनीय वाचना के अनुयायी थे। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे हुई यह आगम-परिषद् पञ्चम वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद कोई वाचना नही हुई। वीर निर्वाण सम्वत् १००० मे शत्रुञ्जय पर्वत पर महावाचक श्री देवर्द्धिगणी का स्वर्गवास हुआ।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की यह परम्परा कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार ली गई है। कही-कही अन्य इतिहासकारों का मत भी लिया गया है।

श्री नन्दीसूत्र पट्टावलि

(१) श्री सुधर्मा स्वामी
(२) श्री जम्बू स्वामी
(३) श्री प्रभव स्वामी
(४) श्री शय्यंभव स्वामी
(५) श्री यशोभद्र स्वामी
(६) श्री सम्भूति विजयजी
(७) श्री भद्रबाहु स्वामी
(८) श्री स्थूलिभद्र स्वामी

(९) श्री महागिरिजी
(१०) श्री आर्य सुहस्ति जी
(११) श्री बलिस्सह स्वामी
(१२) श्री स्वाति स्वामी
(१३) श्री श्यामार्य स्वामी
(१४) श्री साण्डिल्य स्वामी
(१५) श्री समुद्र स्वामी
(१६) श्री मंगु स्वामी
(१७) श्री नन्दिल स्वामी
(१८) श्री नागहस्ति स्वामी
(१९) श्री रेवती स्वामी
(२०) श्री ब्रह्मद्वीपिक सिंह स्वामी
(२१) श्री स्कंदिलाचार्य स्वामी
(२२) श्री हिमवन्त स्वामी
(२३) श्री नागार्जुन स्वामी
(२४) श्री भूतदिन्न स्वामी
(२५) श्री लोहित स्वामी
(२६) श्री दूष्यगणि स्वामी
(२७) श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण

भगवान् महावीर के निर्वाण सम्वत् ९८० तक श्रीमन्नन्दीसूत्र मे इन सत्ताईस आचार्यो के नामो का उल्लेख आया है। अनेक विचारक विद्वानो का इस पट्टावली के सम्बन्ध मे भी मतभेद है। कुछ भी हो, वीर निर्वाण सम्वत् ९८० के पूर्व की परम्परा मे तथा उसके बाद की परम्परा मे अनेक दार्शनिक, शास्त्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, और महाप्रभावक आचार्य तथा मुनिराज हुए है। जिनके परमपूत वर्चस्व से जैन शासन की बहुमुखी अभिवृद्धि हुई है। इन महापुरुषो के उपकारो को कभी नही भुलाया जा सकता। जब तक चन्द्रमा मे शीतलता और सूर्य मे उष्णता रहेगी, उनका यश, उनकी कीर्तिगाथाएँ संसार गाता रहेगा!

प्रकरण चौथा

पिछले प्रकरण मे हम भगवान् श्री ऋषभदेव तथा इस अव-सर्पिणी काल के अंतिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर से लेकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक का सक्षिप्त परिचय लिख आये हैं। वीर निर्वाण से पूरे एक हजार वर्ष तक के इस काल मे आगम-परम्परा मे अनेक उन्नति तथा अवनति के चक्र आये हैं। इस काल मे प्राकृत-अर्धमागधी भाषा का मुख्यतया प्रभाव रहा है। प्रस्तुत प्रकरण मे हम कतिपय उन विशिष्ट विद्वान् मुनिराजो तथा आचार्यों का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे जिन्होने विशेप-तया अपनी सस्कृत रचनाओ द्वारा जैन साहित्य की अभिवृद्धि की। इन विद्वानो का आगमसाहित्य के प्रचार मे भी विशेष योग रहा है। उन विद्वानो मे श्री सिद्धसेन दिवाकर का नाम अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। अतः उन्ही के शुभ नाम से हम अपने इस प्रकरण का शुभारम्भ कर रहे हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर उज्जयिनी' के ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। वीर-निर्वाण सम्वत् ४०० के आस पास इनका अस्तित्व माना जाता है। ये आचार्य स्कन्दिल के शिष्य वृद्धवादी आचार्य के शिष्य थे। कुछ इतिहासकार इन्हे महाराज विक्रमा-दित्य का मन्त्री मानते है। कुछ भी हो, सिद्धसेन सस्कृत, दर्शन, ज्योतिष आदि अनेक विषयो के प्रकाण्ड पण्डित थे। कहा जाता

है कि उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही श्री विक्रमादित्य ने इन्हें अपने दरबार मे विशिष्ट स्थान दिया था। सिद्धसेन को अपने पाण्डित्य पर बडा ही अभिमान था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ मे हरा देगा उसी को मैं अपना गुरु मानूँगा।

उन दिनो वृद्धवादी आचार्य का नाम बहुत प्रसिद्ध था। वे पाण्डित्य के धनी थे। सिद्धसेन शास्त्रार्थ के लिए उनके पास पाटन नगर [भडौंच] मे पहुँचे। दोनो विद्वानो की ये भेंट मार्ग मे चलते-चलते ही हुई थी। सिद्धसेन ने आचार्य वृद्धवादी को शास्त्रार्थ की चुनौती दी और कहा कि या तो पराजय स्वीकार कर लीजिये अन्यथा मुझ से शास्त्रार्थ करिये। जिस स्थान पर यह वार्तालाप हो रहा था वहाँ कुछ गोपालो की एक मण्डली भी उपस्थित थी। आचार्य वृद्धवादी ने ग्वालमण्डली के सम्मुख तथा उन्ही को मध्यस्थता मे शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया।

सिद्धसेन पण्डित थे। उन्होने अपना पूर्व पक्ष स्थापित करने के लिए अपना सरस्वती-भण्डार लच्छेदार क्लिष्ट संस्कृत भाषा मे बहा दिया। ग्वालमण्डली की समझ मे उनकी कोई भी बात नही आयी। उन्हे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो उनके सामने कोई विक्षिप्त व्यक्ति बहक रहा हो।

आचार्य वृद्धवादी बड़े समयज्ञ थे। उन्होने सरल और सीधी भाषा मे ग्वालो के सम्मुख नैतिक जीवन का उपदेश दिया और गोपालो से निर्णय मांगा कि कौन अधिक विद्वान् है। ग्वालो ने समझ मे न आने के कारण वृद्धवादी की ओर ही अपना निर्णय दिया

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सिद्धसेन ने पराजय स्वीकार कर ली और साथ ही साथ शिष्य होने की भावना भी बड़े ही विनम्र शब्दो मे व्यक्त की। उत्तर मे वृद्धवादी जी ने कहा—भविष्य मे ग्वालो जैसे अनपढ लोगो को मध्यस्थ बनाने की भूल मत करना, हम अभी शहर मे जायेगे। वहाँ विद्वानो की सभा मे हमारा तुम्हारा शास्त्रार्थ होगा। विद्वान् लोग जो निर्णय देंगे हमे मान्य होगा।

अन्त मे ऐसा ही हुआ। दोनो का शहर के विद्वानो के समक्ष शास्त्रार्थ हुआ, यहाँ पर भी सिद्धसेन के पल्ले पराजय ही पडी। कृत प्रतिज्ञा के अनुसार वह वृद्धवादी आचार्य का शिष्य बन गया। गुरुदेव की सेवा मे रह कर सिद्धसेन मुनि ने अनेक जैन आगमो का सविस्तार अध्ययन किया। शिष्य की योग्यता को देखकर गुरुदेव ने उन्हे शिष्य-परिवार के साथ पृथक् विहार करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

विहार करते हुए एक बार सिद्धसेन सूरि विक्रम की राजधानी अवन्ती मे पहुँचे। राजा विक्रम ने अपना पुराना पण्डित जानकर उनका एक करोड स्वर्ण-मुद्राओं से शाही सम्मान करना चाहा। किन्तु सिद्धसेन सूरि ने अपनी श्रमण-मर्यादा के कारण इसे स्वीकार नही किया। राजा विक्रमादित्य उनके इस त्याग से अत्यन्त प्रभावित हुआ। इसके कुछ ही दिनो बाद कर्णपुर के राजा देव वल्लि ने उनके त्याग से आकर्षित होकर उन्हे अपना गुरु स्वीकार कर लिया। अब वे शाही ठाठ-बाट के साथ राज-धानी मे रहने लगे। धीरे धीरे उनका त्याग, राग मे बदलने लगा। उनकी त्याग-वैराग्य भावना शिथिल पड गई। वे साधु-चर्या के विरुद्ध पालकी आदि मे बैठने लगे। राजसी सत्कार

स्वीकार करने लगे। राज-पुरुषो की तरह अपना जीवन बिताने लगे। उनका सामान, उनकी पालकी, सब कुछ मजदूर उठाते। समस्त राज्यतत्र मे विशेष राजनीतिज्ञ के रूप मे उनका सम्मान होने लगा।

आचार्य वृद्धवादी को जब यह सब समाचार मिला तो उन्हे बडा दु ख हुआ। अपने पथभ्रष्ट शिष्य का उद्धार करने के लिये वे कर्णपुर आये। जब सिद्धसेन सूरि भ्रमण करने के लिए पालकी मे बैठकर जाने लगे तो आचार्य वृद्धवादी वेश बदल कर पालकी उठाने वालो मे जुत गये। वृद्ध अवस्था के कारण उनके पाँव लडखडाने लगे। पालकी मे बैठे सिद्धसेन ने क्रुद्ध होकर कहा – कोऽसि भूरिभाराक्रान्तस्कन्ध' किं तव बाधति" अरे तू कौन है क्या भारी बोझ से तेरे कधे दुखते हैं। सिद्ध का प्रश्न सुनकर गुरुदेव ने कहा—'न तथा बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते.। तुम्हारा बाधति शब्द मुझे जितनी पीडा पहुँचा रहा है, उतना यह बोझिल कधा नही।

शीघ्रतावश सिद्धसेन सूरि बाधते क्रिया के स्थान पर बाधति बोल बैठे थे। पालकीवाहक आचार्य के शब्दो को सुनकर वे एकदम चौक पडे। उन्होने ने सोचा :—मेरी भूल पकडने वाला यह कोई दिव्य पुरुष है। ज्यों ही उन्होंने पालकी से नीचे को देखा तो वे एक दम चकित रह गए और तुरन्त ही गुरु महाराज के चरणो मे गिर कर अपने अपराध की क्षमा मांगने लगे। उस समय उनकी आंखो मे पश्चात्ताप के आसू उभर रहे थे।

गुरु के सत्य उपदेश से सिद्ध सेन सूरि का सोया हुआ त्याग भाव पुन जागृत हो गया। वे पूर्व की भांति अपने सयम मार्ग

दृढ हो गए। अब वे अपनी साधु-मर्यादाओ का सजग होकर पालन करने लगे। तथा आत्म कल्याण के साथ-साथ संघ-हित के कार्यों मे जुट गए। उन्होने अपने जीवनकाल मे साहित्य के क्षेत्र मे जो प्रति दिन कार्य किये है उनके उदाहरण अन्यत्र मिलने कठिन है। सिद्धसेन के पूर्व जैन-परम्परा मे कोई स्वतंत्र तर्क-शास्त्र नही था। सन्मति तर्क न्यायावतार-आदि अनेक सैद्धान्तिक शास्त्रो का निर्माण करके उन्होने युगो-युगो के लिए जैन साहित्य को अमर कर दिया। सिद्धसेन सूरि का तर्क बडा ही अकाट्य होता था। तत्कालीन अनेक विद्वान् उनके तार्किक दृष्टिकोण के सन्मुख नतमस्तक थे। सिद्धसेन सूरि की रचनाओ मे अध्यात्म वाद की पुट विशेष रूप से होती थी। शास्त्रार्थ-कला मे भी वे अत्यंत निपुण थे। वे सदा ही समन्वयवादी रहे थे। पौराणिक वृत्ति के मानवो को वे बडे ही खरे शब्दो मे बाँध देते थे। नवीनतानुयायिओ को सदा पुरातन मे से सत्य खोजने की प्रेरणा देते रहते थे।

सिद्धसेन दिवाकर यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य थे, तो भी दिगम्बर आचार्यो ने भी उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। अकलंक देव, तथा अनतवीर्य आदि दिगम्बर आचार्यो ने बडे ही विनीत शब्दो मे उनकी प्रशसा की है

सिद्धसेन दिवाकर के स्वर्गवास के विषय मे विद्वानो मे अनेक मतभेद प्रचलित है। अभी तक कोई निर्णयात्मक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है।

तथापि उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर वीर सम्वत् ४८० के आस-पास दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर नगर मे उनका स्वर्गवास माना जाता है।

विक्रम की इस पहली शताब्दी मे अनेक प्रभावक आचार्य तथा विद्वान् मुनिराज हुए हैं। जिनमे इन्द्रदेव खपुटाचार्य, तथा श्रमणसिंह आदि के नाम विशेष माने जाते है। अन्य ऐतिहासिक विद्वानो का वृत्त अभी उपलब्ध नही हो पाया है। उपसर्ग-हर स्तोत्र के निर्माता द्वितीय भद्रबाहु स्वामी भी इसी समय मे हुए है। अनेक ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर उनका समय वीर सम्वत् ४९२ तथा विक्रम सम्वत् २० माना जाता है। कुछ लोगो की यह भी धारणा है, वास्तव मे वराहमिहिर इन्ही के भाई थे। क्यो कि विक्रम की राजसभा के नव रत्नो मे वराहमिहिर नामक विद्वान् का नाम भी आता है। ज्योतिर्विद्याभरण नामक ग्रन्थ मे इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। फिर भी सभी इतिहासकार इनके विषय मे एकमत नही हो पाये है। इस शताब्दी मे जैन धर्म का प्रचार तथा प्रसार अभूतपूर्व रूप से हुआ था।

विक्रम की तीसरी शताब्दी तक अनेक प्रभावक आचार्यो के संरक्षण मे जैन वाङ्मय की उन्नति हुई। आगम साहित्य का विशेष रूप से जनता मे प्रचार हुआ। साहित्य को लिपिबद्ध करने का सत्प्रयास हुआ। जैन श्रमण संस्था को अधिक दृढ बनाने के प्रयोग अपनाए गए। एक प्रकार से यह तीन सौ वर्षो का समय धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्रांति का समय था।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण वीर सम्वत ११४५ के आस-पास हुए हैं ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होने अपने जीवन-काल मे अनेक संस्कृत के ग्रन्थो का निर्माण किया था। विशेषावश्यक मूल और भाष्य जैसे अनमोल ग्रन्थ आपकी ही अमर

कृतियाँ हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जैन साहित्य को एक नई दिशा दी थी। साहित्यिक क्षेत्र मे आपकी प्रवृत्तियाँ जैन इतिहास की अमूल्य निधि है।

जिनदास महत्तर

आचार्य जिनदास महत्तर विक्रम स० ६३३ मे हुए हैं। इन्होंने निशीथ, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार पर चूर्णी लिखी है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने अनेक ग्रन्थो मे इनका विशेष रूप से उल्लेख किया है। आगमिक तात्त्विक ज्ञान का आपने बडो ही सरल संस्कृत भाषा मे निरूपण किया है। आप संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के वड़े विद्वान् थे।

आचार्य हरिभद्र सूरि

चित्तौड को पहले 'चित्रकूट' कहते थे। यहाँ के राजा का नाम जितारि था। श्री हरिभद्र का जन्म चित्रकूट मे हुआ था। वे अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा राज्य-पुरोहित थे। राजा प्रजा सभी मे उनका विशेप मान था। उनके पाण्डित्य के आगे बड़े-बड़े विद्वान् नतमस्तक रहते थे। हरिभद्र अग्निहोत्र ब्राह्मण थे। पाण्डित्य का गव होने के कारण वे सदा शास्त्रार्थ के लिए तयार रहते थे। कहते हैं कि इन्होने यह प्रतिज्ञा को थी कि—जिस विद्वान् की गाथा का अर्थ मैं नही समझ सकूंगा वही मेरा गुरु होगा।

एक दिन हरिभद्र नगर मे जा रहे थे। पास के एक उपाश्रय मे एक साध्वी किसी गाथा का उच्चारण कर रही थी। हरिभद्र

ने गाथा का अर्थ मस्तिष्क मे बैठाने की पूरी कोशिश की, पर अनेक वार प्रयत्न करने पर भी कुछ समझ मे न आया। वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सीधे साध्वी के पास आये और अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई।

साध्वी का नाम 'याकिनी महत्तरा' था। उसने हरिभद्र को समझाते हुए कहा कि—तुम मुझे नही, मेरे गुरु महाराज श्री जिनदत्त सूरि को अपना गुरु बनाओ। वे महान् उपकारी है। आध्यात्म ज्ञान के दाता है।

पवित्रहृदया साध्वी की वात स्वीकार करके हरिभद्र श्री जिनदत्त सूरि के पास पहुँचे और उनके प्रभाव से आकर्पित होकर अपना समस्त जोवन उनके चरणो मे ही समर्पित कर दिया। साध्वी याकिनी महत्तरा के उपकार को हरिभद्र जीवन-भर नही भूले। उन्होने अपने अनेक ग्रन्थो मे अपना नाम 'याकिनी महत्तरा सूनु' दिया है। हरिभद्र बड़े ही प्रतिभासम्पन्न थे। दीक्षित होने के कुछ हो दिनो मे उन्होने जैन आगमो का विशाल अध्ययन कर लिया। उनकी योग्यता दिनोदिन उद्दीप्त होने लगी। अपने होनहार शिष्य की प्रगति से गुरुदेव बडे ही प्रसन्न हुए तथा उन्होने शीघ्र ही श्री हरिभद्र को आचार्य पद का उत्तरदायित्व सौप दिया।

अनेक विद्वानो का मत है कि श्री हरिभद्र सूरि ने अपने जीवनकाल में १४४४ ग्रन्थो का निर्माण किया था। ये सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। इनमे से कुछ ग्रन्थ प्राप्त हो पाए हैं। कुछ भी हो, आचार्य हरिभद्र के साहित्य-सृजन ने भारतीय साहित्य को एक नई प्रेरणा दी है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जिस तर्क और दर्शन का द्वार खोला था, उसे विस्तृत विशाल

रूप देने का श्रेय आचार्य हरिभद्र को प्राप्त हुआ। हरिभद्रीय साहित्य के वर्तमान मे, अनेकात जयपताका, आवश्यक वृहद् वृत्ति, दशवैकालिक सूत्रवृत्ति, न्यायसूत्र प्रवेशवृत्ति, धर्मविन्दु प्रकरण, नन्दी सूत्र लघु वृत्ति, ललित विस्तरा, षड्दर्शन समुच्चय, श्रावक प्रज्ञप्ति, विंशति--विंशिका प्रकरण' समराइच्च कहा, और योग दृष्टि समुच्चय आदि ग्रथ विशेष प्रसिद्ध हैं।

आचार्य हरिभद्र का युग जीवन के सघर्षों का युग था। अनेक प्राकृतिक विपत्तियों के कारण साधुसस्था का आचार शिथिल हो गया। विलासिता के विषैले कीटाणुओ ने श्रमण वर्ग को एकदम अस्वस्थ कर दिया था। मत्र तन्त्र आदि प्रतिष्ठा प्राप्ति के साधन वन चुके थे। श्रावक लोग शास्त्रीय ज्ञान से वचित होते जा रहे थे। इसी कारण साधु लोग जो भी कुछ करते थे, उसमे गृहस्थ वर्ग हस्तक्षेप नही कर पाता था। अधिक क्या कहा जाय, दूसरो को उन्नति का उपदेश देने वाला साधु स्वय पतन की ओर वढ रहा था। उसका जीवन दिनोदिन विवेकशून्य होता जा रहा था। इस आध्यात्मिक अराजकता से आचार्य हरिभद्र अत्यन्त दुःखी थे। उन्होने अपनी कृतियो मे उपदेशो द्वारा इन सयम-विरोधी वातावरणो का बहुत कुछ निराकरण भी किया था। तत्कालीन बढ़ रहे चैत्यवाद पर तो उन्होने अपने ग्रन्थो मे प्रबल विरोध व्यक्त किया है। सम्बोध प्रकरण मे तत्कालीन साधुवो के आचार-विचार का बडा ही स्पष्ट और विस्तृत वर्णन दिया है। आचार्य हरिभद्र के बाद श्री जिनभद्र सूरि ने भी चैत्यवाद की बुराइयो पर बड़े ही अकाट्य शास्त्रीय प्रहार किये थे। साराश यह है कि हरिभद्रीय साहित्य के पठन-पाठन से तत्कालीन साधु समाज की शिथिलता का परिचय मिलताहै।

आचार्य हरिभद्र का साहित्य शुद्ध भावनाओ से परिपूर्ण है। वह सामुदायिक भावना से कोसो दूर है। इनका समय अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नही हो पाया है। फिर भी अनेक प्रमाणो के आधार पर इनका समय विक्रम की सातवी और आठवी शताब्दी के बीच का माना जाता है। इन्ही दिनो मे आचार्य उद्योतन सूरि हुए है। 'कुवलय माला' नामक ग्रंथ इनकी प्रसिद्ध कृति है। भाषा तथा भावो की दृष्टि से यह ग्रंथ अति ही उत्तम है। सम्पूर्ण ग्रंथ प्राकृत भाषा में है। उद्योतन सूरि के धर्मगुरु श्री तत्त्वाचार्य थे और विद्यागुरु आचार्य हरिभद्र सूरि थे।

श्री बप्पभट्ट सूरि

ये 'दुवातथो' नामक ग्राम के निवासी थे। इनकी माता का नाम 'भट्टी' तथा पिता का नाम 'ब्रह्म' था। ये भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी स्मरणशक्ति बडी ही विलक्षण थी। एक दिन में ये एक हजार श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे। श्री सिद्धसेन सूरि इनके दीक्षागुरु थे। आठवी शताब्दी के आरम्भ मे इनका जन्म माना जाता है। विक्रम सम्वत् ८०६ के लगभग ये दीक्षित हुए थे। ग्यारह वर्ष की लघुवय में ही गुरु ने इन्हे आचार्य पद पर स्थापित कर दिया था। ये बडे ही प्रभावशाली आचार्य थे। ग्वालियर के महाराज को जैन धर्म मे दीक्षित करने का श्रेय आपने ही प्राप्त किया था। कन्नोज के तत्कालीन राजा ने अपना समस्त राज-ऐश्वर्य आपके चरणो मे रख दिया था। ये महान् राजा परम प्रतापी राजा यशो वर्मा के पुत्र थे। समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी ने इन्हीं के राज्यार्पण इतिहास की पुनरावृत्ति की थी। आचार्य बप्पभट्ट ने गौडा (बंगाल के)

अन्तर्गत लक्षणावती नगर के राजा को भी प्रतिबोध दिया था। चावडा वश पर भी आपका विशेष प्रभाव था। 'नन्दा' और 'गोविन्द' नाम के इनके दो प्रधान शिष्य थे। आम राजा के पुत्र 'भोज' भी इनके बडे श्रद्धालु थे। ६५ वर्ष की आयु मे इनका स्वर्गवास हुआ।

श्री शीलांकाचार्य

विक्रम की नववी शताब्दी की समाप्ति के आस-पास इनका जन्म माना जाता है। इन्होने १०,००० श्लोको का 'महापुरुष चरित्र' नाम का प्राकृत ग्र थ रचा है। इस वृहद् ग्रंथ मे ५४ महापुरुषो का जीवनचरित्र है। ये बडे हो विद्वान् तथा प्रभावक आचार्य थे। कुछ इतिहासकार इनके दीक्षा-गुरु का नाम मानदेव सूरि मानते हैं और कुछ इन्हे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का शिष्य मानते है विक्रम सम्वत् ६३३ मे इन्होने अ ग शास्त्रो पर टीकाएँ लिखनी प्रारम्भ की थी। सर्वप्रथम आचाराग और सूत्रकृताग पर सस्कृत टीका लिखी थी। जो आज भी उपलब्ध हैं। इनकी अन्य टीकाएं उपलब्ध नही हैं। 'जोव समास' पर लिखी हुई उनकी महत्त्वपूर्ण वृत्ति आज भी साहित्य की सम्मान बढा रही है।

श्री सिद्धर्षि सूरि

ये गुजरात के 'श्रीमाल' नामक नगर के राजमंत्री श्री सुप्रभ देव के पुत्र थे। प्रसिद्ध संस्कृत कवि श्री माघ के ये चचेरे भाई लगते थे। इनके यौवन काल का अधिक भाग विषय, भोग तथा व्यसनो मे बीता था। इनका समय नवमी शताब्दी के बीच का माना है। इनके दीक्षागुरु श्री दुर्ग स्वामी थे। गुरु शिष्य

दोनो ही सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। सिद्धर्षि सूरिकी रचनाओ मे 'उपमितिभवप्रपच' नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। विक्रम सम्वत् ६६२ ज्येष्ठ शुक्ला पचमी गुरुवार को यह ग्रन्थ समाप्त हुआ था।

श्री हरिभद्र सूरि से लेकर आचार्य सिद्धर्षि सूरि तक के काल मे अनेक और भी महा प्रभावक आचार्य, मुनि और विद्वान् हुए है। ग्रन्थगुरुता के कारण उनका यहाँ परिचय नही दिया गया है। यहाँ विक्रम की पहली सहस्राब्दी समाप्त होती है। विक्रम सम्वत् १००६ मे 'श्री जम्बू नाग' नाम के विद्वान् संत ने 'मणि-पति चरित्र' नामक ग्रन्थ लिखा। जिन-शतक' तथा 'चन्द्रदूत' काव्य भी इन्ही के लिखे हुए हैं।

प्रद्युम्नसूरि

इनका विशेष उल्लेख उपलब्ध नही है। इतना अवश्य है कि ये वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। शास्त्रार्थ-कला मे पूर्ण निपुण थे। इन्होने अनेक वार बौद्धो तथा दिगम्बर मतानु-यायियो को शास्त्रार्थ मे हराया था। सपाद लक्ष और त्रिभुवन-गिरि आदि राजाओ को आपने ही जैन धर्म की दीक्षा दी थी। भगवान् महावीर के ३२वे पाट पर इनको माना जाता है। आपकी शिष्य-परम्परा मे दार्शनिक सत श्री अभयदेव का नाम विशेष रूप से आता है। ये न्याय शास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। सन्मति तर्क पर श्री अभयदेव की टीका, साहित्यिक जगत् मे अपना विशेष महत्त्व रखती है। इस टीका मे २५ हजार श्लोक-प्रमाण सामग्री है।

आचार्य अकलकदेव, श्री विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र आदि

दिगम्बर जैन विद्वान् भी इसी काल मे हुए है, वास्तव मे यह समय जैन न्यायशास्त्र के विकास का समय था। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के विद्वान् आचार्यों ने इस काल मे जैनधर्म के प्रचार मे अपना योग दिया था।

श्री अभयदेव सूरि के शिष्यो मे धनेश्वर सूरि का प्रमुख स्थान माना जाता है। धारा नगरी के महाराजा मुंज पर आपका विशेष प्रभाव था।

विक्रम सम्वत् १०५० के लगभग राजा मुंज की मृत्यु हुई मानी जाती है। आधुनिक इतिहासकार उस समय श्री धनेश्वर सूरि का होना स्वीकार करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'ग्यारहवी शताब्दी का समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इसमे अनेक प्रभावक विद्वान् मुनिराज और गृहस्थ हुए है। धनपाल कवि तथा उनके भ्राता शोभन मुनि, शांति सूरि, वर्द्धमान सूरि, महाप्रभावक बुद्धि-सागर सूरि आदि मुनिराज ग्यारहवी शताब्दी की ही विभूतियाँ हैं। आबू के कलात्मक जैन-मन्दिर का निर्माण भी इसी शताब्दी (१०८८) मे हुआ था। स्थापत्य-कला की दृष्टि से यह मन्दिर सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मन्दिर का सौन्दर्य अनुपम है।

नवाङ्गी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि

इनका जन्म मेदपाट के वडसल्ल नगर मे हुआ था। इनका पूर्व नाम सोमदेव था। इनके माता-पिता का नाम तथा परिचय उपलब्ध नही है तथापि अनेक ग्रन्थो के आधार से ऐसा प्रतीत होता है कि ये राजकुमार थे। विक्रम सम्वत् १०८८ मे इनकी दीक्षा मानी जाती है। मुनिदीक्षा के बाद इनका नाम अभय-

देव रख दिया। कुछ ही काल मे प्रकाण्ड पण्डित होकर इन्होंने नव-अङ्गसूत्रो पर सस्कृत मे टीकाएँ लिखी। नव-अङ्गसूत्रो के, नाम ये हैं–१, श्री स्थानाङ्ग, २. श्री समवायाङ्ग, ३. श्री भगवती, ४, श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग ५. श्री उपासक दशाङ्ग ६, श्री अन्तकृद्-शाङ्ग, ७. श्री अनुत्तरोपपातिक, ८ श्री प्रश्नव्याकरण, ९. श्री विपाक-सूत्र। जैन साहित्य मे श्री अभयदेव सूरि का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आपका स्वर्गवास ११४५ मे ४७ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। आप दृढ श्रद्धा तथा ज्ञान और चारित्र की दिव्य मूर्ति थे। आपके शिष्य-परिवार मे विजयचन्द्र चरित्र' के रचयिता चन्द्रप्रभ महत्तर तथा जिनचन्द्र, प्रसन्नचन्द्र, गुणचन्द्र और जिनवल्लभ गणी विशेष प्रसिद्ध हैं। वि० सं० ११४० मे प्राकृत-भाषा में मनोरमा-चरित्र के निर्माता श्री वर्धमान आचार्य भी श्री अभयदेव सूरि के ही शिष्य थे। इन्होने ११६० मे आदिनाथ-चरित्र और ११७२ मे धर्मरत्न करण्डवृत्ति का निर्माण किया था। दोनो ग्रन्थ प्राकृत भाषा के है। इन्ही दिनो काश्मीर के राजा कर्ण के राज्य मे कल्हण नामक प्रसिद्ध कवि हुए है।

इस बारहवी शताब्दी के मध्यकाल से लेकर विक्रम की तेरहवी शताब्दी के मध्यकाल तक, मल्लधारी अभयदेवसूरि तथा जिनवल्लभ सूरि आदि अनेक प्रसिद्ध मुनिराज हुए हैं। खरतर-गच्छीय महाप्रभावक चमत्कारी सत श्री जिनदत्त सूरि भी इन्ही दिनों मे हुए हैं। ११६९ विक्रम मे इन्हे सूरिपद प्राप्त हुआ था। ये श्री जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर शिष्य थे। इनके गणधर-सार्धशतक, सदेह दोहावली और गणधर-सप्तति ये तीन प्राकृत-भाषा के ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

विक्रम सम्वत् ११६० मे लेकर १२४५ तक रामदेव, श्री चन्द्र-

सूरि तथा श्री सोमप्रभ सूरि आदि अनेक ग्रन्थकार, टीकाकार, प्रसिद्ध मुनिराज आचार्य हुए हैं।

श्री हेमचन्द्राचार्य

जैनधर्म के प्राचीन इतिहास से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि'—प्राचीनकाल से लेकर अब तक जैन श्रमण अपने, मन, वाणी और शरीर से समाज मे धार्मिक तथा नैतिक वातावरण का बीज-वपन करते चले आरहे हैं। भारत के इतिहास मे गुजरात भी अपना एक प्रमुख स्थान रखता है। इस भूमि ने अनेक नररत्न देश को दिये हैं। आचार्य हेमचन्द्र इसी गुर्जर भूमि में उत्पन्न हुए। ये एक सार्वभौम महापुरुष थे। हेमचन्द्राचार्य के नाम से आज साहित्यिक क्षेत्र मे कौन अपरिचित है? साहित्य जगत् पर उनका महान् उपकार है।

विक्रम सम्वत् ११४५ मे आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के 'धन्धुका' नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम 'चाचिग' तथा माता का नाम 'पाहिनी' था। उनका स्वयं का नाम चंग था। एक दिन पाहिनी माता अपने पुत्र चंग को दर्शनार्थ आचार्य देवचन्द्र के चरणो मे ले गई। आचार्यदेव अद्भुत बालक चंग के लक्षणो को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हे स्पष्ट झलकने लगा कि भविष्य मे यह बालक कोई प्रतिभा-सम्पन्न महापण्डित होगा। अच्छी वस्तु की सभी को चाह होती है। आचार्य देवचन्द्र ने माता पाहिनी से पुत्र की भिक्षा मांगी। धार्मिक तथा गुरु श्रद्धालु होने के कारण 'पाहिनी' आचार्यदेव की याचना को अस्वीकार न कर सकी। शासन की प्रभावना के लिए उसने अपने पुत्र को आचार्य श्री के चरणो मे समर्पित कर दिया। कुमार 'चग' को लेकर आचार्य देवचन्द्र खमात की ओर विहार कर गये। यही

पर 'चाचिग' की आज्ञा मे बडी धूमधाम के साथ 'चंग' की दीक्षा-विधि सम्पन्न हुई। मुनिवेश मे आने के बाद इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। थोडे ही दिनो मे नव-दीक्षित मुनि ने व्याकरण, काव्य साहित्य, अलकार, आगम न्याय-दर्शन, और ज्योतिष आदि विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। आपके अद्वितीय पाण्डित्य से प्रभावित होकर गुरुदेव ने इन्हे केवल २१ वर्ष की आयु मे ही आचार्य पद पर स्थापित कर दिया। अब सोमचन्द्र के स्थान पर इनका नाम हेमचन्द्र रख दिया गया। जनता इन्हे आचार्य हेमचन्द्र के नाम से ही स्मरण करने लगी।

विक्रम सम्वत् ११६६ के वैशाख मास के शुक्ल पक्ष मे विहार करते हुए आचार्य हेमचन्द्र 'पाटन' मे पधारे। उस समय पाटन विद्या, कला और संस्कृति का केन्द्र था। तत्कालीन पाटन के राजा सिद्धराज भी बडे ही धार्मिक प्रकृति के थे। आचार्यश्री के सत्संग से उनकी धार्मिक भावना और भी निखर उठी। सिद्धराज और श्री हेमचन्द्राचार्य के समागम मे पाटन की भूमि सरस्वती-उपासना की केन्द्र-स्थली बन गई। यही पर आचार्य श्री ने सिद्धहेम शब्दानुशासन नाम के अपने सर्वप्रथम व्याकरण-शास्त्र की रचना की। इससे श्री हेमचद्राचार्य के अद्वितीय पाण्डित्य की सर्वत्र धाक जम गई। सिद्धराज की भी उनके प्रति विशेष श्रद्धा बढ गई। अब वह उनके उपदेशानुसार विशेष रूप मे अपने कर्त्तव्यो का पालन करने लगा। सिद्धराज के उत्तरा-धिकारी कुमारपाल तो हेमचन्द्राचार्य को अपना गुरु ही मानने लगा था। वह उनके उपदेशो मे प्रभावित होकर जैन धर्मानुयायी बन गया था। सिद्धराज और कुमारपाल मे कुछ अनबन रहती थी। आचार्यश्री के प्रयत्नो में ही यह आपसी द्वेष-भाव समाप्त हुआ और कुमारपाल को पाटन का राज्याधिकार मिला। कुमारपाल ने भी गुरु-भक्ति के कारण अपना समस्त राज्य

गुरु-चरणों मे अर्पित कर दिया। आचार्यश्री तो त्यागी थे। उन्हे राज्य का करना भी क्या था ? फिर भी उन्होने राज्यभार में कुमारपाल से 'अमारी' (जीव हिंसा बदी) की घोषणा करवाई और जैन-धर्म के नियमों के पालन का वचन ले लिया। गुर्जर प्रात में जैन-धर्म के प्रचार का मुख्य कारण कुमारपाल का राज्याश्रय ही था।

आचार्य हेमचन्द्र विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनका ज्ञान बहुमुखी था। उनके विस्तृत साहित्य से जैन साहित्य की ही नही, अपितु भारतीय साहित्य की ·श्रीवृद्धि हुई है। एक किंवदन्ति के अनुसार हेमचंद्राचार्य ने साढे तीन करोड श्लोकप्रमाण बहुमुखी साहित्य की रचना की है। उनकी रचनाओ मे १ शब्दानुशासन, २ छन्दोऽनुशासन, ३ काव्यानुशासन, ४ लिंगानुशासन, ५ कुमार-पाल चरित्र, ६ प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य ७ सस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य ८ अभिधान चितामणि ९ त्रिषष्टि शलाका पुरुष १० प्रमाण मीमासा ११ अध्यात्म उपनिषद् १२ योग-शास्त्र, १३ अलकार चूडा-मणि आदि अनेक ग्रन्थो के नाम मुख्य है। गुजरात के साहित्य-सर्जको मे हेमचद्राचार्य के समान विद्वान् मिलना कठिन है। अनेक विदेशी विद्वान् भी उन्हे ज्ञान का अगाध समुद्र मानते है। धार्मिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रो मे उनका विशाल प्रभाव था। वे अहिंसा की साक्षात् मूर्ति थे। माँ सरस्वती के पतिभा-सम्पन्न सुपुत्र थे। उन्हे पाकर गुजरात ही नही समस्त भारत धन्य हो गया।

आचार्य हेमचद्र के अनेक शिष्य थे। जिनमे 'केल विलास' 'यदु विलास' आदि ग्रन्थो के सफल रचयिता श्री रामचन्द्र सूरि का नाम प्रमुख है। आपके शिष्यो मे श्री महेन्द्र सूरि, वर्द्धमान,सूरि देवचंद्र, उदयचद्र, यशश्चंद्र तथा बालचद्र आदि शिष्यो के नाम इतिहास प्रसिद्ध हैं अस्सी वर्ष की परिपक्व आयु मे वि स

१२२९ मे आपका स्वर्गवास माना जाता है। आपके उत्तराधिकारी श्री रामचंद्र सूरि हुए। आचार्य हेमचंद्र के स्वर्गवास के वाद उनके शिष्य अपने गुरु की प्रतिष्ठा को सुरक्षित न रख सके। उनमे आपसी कलह बढ़ गया। इसी कारण जन-साधारण मे भी उनके प्रति पहिले जैसी श्रद्धा नही रह सकी।

आचार्य हेमचद्र बारहवी शताब्दी के ज्ञान सूर्य थे। उनके विशाल पाण्डित्य के कारण ही श्रद्धालु लोग उन्हे कलिकाल-सर्वज्ञ मानते थे।

राजा कुमारपाल की मृत्यु के वाद गुजरात के राजसिंहासन पर अजयपाल आये तथा इनके पीछे वीरधवल सम्राट् का शासन आया। वस्तुपाल और तेजपाल इन्ही महाराज के महामात्य थे। दोनो ही महामंत्री जैन धर्मानुयायी थे। दोनो ही वडे विद्वान् थे। वस्तुपाल का 'नर-नारायणानन्द' महाकाव्य तो आज भी प्रसिद्ध है।

तेरहवी शताब्दी के मध्म भाग अर्थात् विक्रम सम्वत् १२५० मे लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक अनेको विद्वान् आचार्य संत हुए है। जिनमे मंत्रीवर वस्तुपाल के गुरुदेव विजयसेन सूरि (१२८८)श्री उदयप्रभ सूरि (१२९०) वासु पूज्य-चरित्र के रचयिता श्री वर्द्धमान सूरि (१२९९) उपाध्याय श्रीचन्द्र तिलक (१३१२) श्री जिनेश्वर सूरि (१३२५) उदयप्रभ सूरि के शिष्य—स्याद्वाद-मजरी कार – श्री मल्लिषेण सूरि (१३४९) आदि संतो के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य मेरुतुंग, आचार्य, गुणरत्न आचार्य, सोमचद्र आदि एक नही अनेको साहित्य-सर्जक, तथा धर्म-प्रचारक मुनिराज हुए है। जिनका वर्णन पूर्ण रूप से प्राप्त न होने के कारण हम देने मे असमर्थ हैं। जैन-धर्म के इतिहास का भूतकाल बडा ही गौरवपूर्ण रहा है।

—०—

प्रकरण पाँचवाँ

अनेक भाषाओं की जननी प्राकृत

विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी का काल धर्म, समाज तथा भाषा इन तीनो दृष्टियो से क्रांति का काल रहा है। सुदूर पूर्व प्राचीनकाल में अर्द्ध मागधी प्राकृत-भाषा लोक-भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती थी। तीर्थङ्करयुग मे तो इस भाषा का विशेष प्रचार हुआ है। सभी तीर्थङ्कर सदा-सदा से अर्ध-मागधी भाषा मे ही अपना प्रवचन देते हैं। पाली-भाषा ने प्राकृत अर्द्ध मागधी के सहयोग से ही जन्म लिया था। इसलिए दोनो भाषाओ मे पूरी तो नही पर किसी अंश मे समानता भी पाई जाती है। जैन साहित्य-सर्जको ने प्रचार की दृष्टि से भाषा की ओर सदा ही अपना विशेष ध्यान रखा है। यही कारण है कि जब-जब भाषा-में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई, उसे स्वीकार कर लिया गया। भारतीय भाषाओ के निर्माण मे जैन साहित्य-कारो विद्वानो, आचार्यों का विशेष योग रहा है। प्राकृत तथा पाली-भाषा का मिला-जुला रूप जब लोक-प्रवाह से आकर्षित हुआ तो वही रूप अपभ्रंश के रूप में परिणत हो गया। राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्री आदि जितनी भी

भाषाएँ देश मे प्रचलित है सभी अपभ्रंश भाषा की संताने है। आधुनिक हिन्दी के प्राचीन इतिहास मे भी जैनाचार्यो का पूरा सहयोग रहा है। हिन्दी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो हिन्दी भाषा की उत्पत्ति वि० स० ६६३ श्री देवसेनकृत श्रावकाचार तथा आचार्य हेमचद्र के द्व्याश्रय काव्य से ही स्वीकार की है। जैनाचार्यों का मुख्य लक्ष्य धर्म-प्रचार का रहा है, अतः उन्होने भाषा आदि का व्यर्थ मोह कभी नही किया। जहाँ-जहाँ और जब-जब जिस भाषा की आवश्यकता हुई उन्होने उसी भाषा मे विपुल मात्रा मे साहित्य का निर्माण किया है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि हमारे पूर्वज जैनाचार्य ही आज तक की समस्त लोक-भाषाओ के मूल मे स्रष्टा रहे हैं।

तत्कालीन परिस्थितियाँ

पन्द्रहवी तथा सोलहवी सदी का समय बडा संक्रमण का समय रहा है। उन दिनो जनता का सामाजिक-जीवन अस्त व्यस्त हो रहा था। राजकीय अराजकता के कारण मनुष्य मनुष्य से भयभीत हो रहा था। पठानो के आक्रमण आरम्भ हो चुके थे। जनता उनसे बहुत ही सत्रस्त थी। भारतीय राज्य आपसी सघर्ष के अखाड़े बन चुके थे। राष्ट्र की नीव दिनोदिन कमजोर हो रही थी। चारो ओर नैतिकता का ह्रास हो रहा था। सक्षेप मे देश का सामाजिक जीवन पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। दुष्काल आदि प्राकृतिक आघातो से जनता पीडित थी। साधुओ का जीवन भी दिनोदिन शिथिल होता जा रहा था। सम्प्रदाय, गच्छ आदि का मतभेद अपना व्यापक रूप लेता जा रहा था। शास्त्र-विरुद्ध आचार-विचार का चारो ओर बोलबाला था। जातिवाद, सम्प्रदायवाद और व्यक्तिवाद का भयकर प्रचार हो

रहा था। शास्त्रार्थ के नाम पर आए दिन झगडे होते थे। श्रमण-वर्ग विशुद्ध चरित्र-पालन की ओर से उदासीन होता जा रहा था। साधु-सस्था साधना के मार्ग से पीछे हट रही थी। रूढिवाद ने जनता मे जडता के बीज बो दिए थे। सत्य-धर्म लुप्त हो रहा था। शारीरिक आरोग्य की ओर विषेश ध्यान दिया जाता था। जनता का धार्मिक स्वास्थ्य क्षीण हो रहा था। चैत्य-वासियो की परिग्रह-परायणता मनमाने ढग से पनप रही थी। यति समाज तंत्रो-मंत्रो के जाल मे फस चुका था। चरित्र-निर्माण की ओर बहुत ही कम लोगो का ध्यान था। भगवान् महावीर की विशुद्ध सयम-परम्परा मे आचार-विचार की मलिनता का जहर जन-मानस को पथ-भ्रष्ट कर रहा था। इन समस्त विचारो के निराकरण के लिए देश को एक महापुरुष की आवश्यकता थी। धर्मप्राण लोकाशाह का जन्म इसी आवश्यकता की पूर्ति मे हुआ था।

भगवान् की भविष्य वाणी

जब--जब ससार मे अज्ञान का अन्धकार बढा है, तब--तब यहाँ महापुरुषो का जन्म होता आया है। देश का धार्मिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थान करने के लिए सदासे युग पुरुष उत्पन्न होते आए हैं। पद्रहवी और सोलहवीं शताब्दी का समय सभी प्रकार मे अन्धकार का समय था। भगवान् महावीर की भविष्यवाणी के लिए वह समय सर्वथा उपयुक्त बन चुका था। आगम का कथन है कि एक बार शक्रेन्द्र ने पूछा—हे भगवन्! आपके जन्म-नक्षत्र पर बैठे महाभस्मनामक ग्रह का क्या फल होगा?

भगवान् ने कहा — इन्द्र! यह भस्म ग्रह दो हजार वर्षों तक सच्चे साधु और साध्वियो की पूजा प्रतिष्ठा को मद करेगा

दो हजार वर्षों के वाद यह ग्रह उतरेगा। तब जैन शासन में नई चेतना का संचार होगा। तभी सच्चे साधु-सतो को उचित सम्मान मिलने लगेगा।

भगवान् की यह भविष्यवाणी अक्षरश सत्य निकली। ठीक वीर सम्वत् २००१ में धर्मप्रभावक लोंकाशाह का जन्म हुआ। चतुर्विध तोर्थ मे व्याप्त अज्ञान अधकार एक दम छटने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो श्रीसघ मे धर्मरूपी सूर्य का उदय हो गया हो। धर्मवीर लोकाशाह क्राति के अग्रदूत थे। वे बुराइयों तथा अव्यवहारिकताओ से संघर्ष करने मे कभी नही हिचकते थे। उनका त्याग, वलिदान तथा सत्य-निष्ठा सचमुच अनुपम थी। उन दिनो एक ओर तो कवीर जो निष्पक्ष भाव से तत्कालीन पाखण्डो से लोहा ले रहे थे, दूसरी ओर श्री लोकाशाह समाज मे धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरो का निर्भीकतापूर्वक विरोध कर रहे थे।

लोंकाशाह-अवतरण

श्रीमान् लोकाशाह की ऐतिहासिकता के विषय मे आज किसी को भी मत-भेद नही है। उन्होने स्वयं अपना परिचय अथवा अपनी परम्परा का उल्लेख कही भी नही किया है। परम्परागत वृत्तान्तो तथा तत्कालीन कृतियो के आधार पर ही उनके इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। अनेक भण्डारो मे भी उनके जीवनसम्वन्धी परिचय की प्राचीन सामग्री सगृहीत है। श्रीमान् लोकाशाह के जन्म-सम्वत् के विषय में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। कोई उनका जन्म, १४७५ मे कोई १४८२ में तथा कोई १४७२ को प्रमाणित मानते हैं। इनमें वि स. १४८२ का वर्ष ही ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक जँचता है। वि सं १४८२

कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन गुजरात के पाटनगर अहमदाबाद में आपका जन्म होना माना जाता है। कुछ विद्वान् उनका जन्म "अरहट्ट वाडा" नामक स्थान पर मानते हैं। यह ग्राम राजस्थान के सिरोही जिले मे है।

एक इतिहास-लेखक ने उनका जन्म सौराष्ट्र प्रान्त के लिम्बडी ग्राम मे दशा श्रीमाली के घर मे होना लिखा है। किसी ने सौराष्ट्र की नदी के किनारे बसे हुए नागवेश ग्राम मे हरिश्चन्द्र सेठ की धर्मपत्नी मघी बाई की कुक्षि से उनका जन्म माना है। कुछ लोग उनका जन्म 'जालौर' मे मानते हैं। इन सभी प्रमाणो में अहमदाबाद का प्रमाण उचित जंचता है। क्योकि अणहिलपुर पाटण के लखमसी श्रेष्ठि ने अहमदाबाद आकर ही उनसे धर्म-चर्चा की थी। अरहट्टवाडा, पाटन, और सूरत आदि सघो के नागजी, दुलीचन्द्र जी, मोतीचन्द्र तथा शम्भु जी ये चारो सघवी जब अहमदाबाद मे आये थे तो उनका लोकाशाह के घर जाना, इस बात को सिद्ध करता है कि लोकाशाह का जन्मस्थान अहमदाबाद ही होना चाहिए।

विवाह

श्रीमान् लोकाशाह जाति से ओसवाल थे। उनके पिता का नाम हेमाशाह और माता का नाम गंगादेवी था। किसी-किसी इतिहासकार ने उनकी माता का नाम केशर बाई भी लिखा है, किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञ गगादेवी नाम को ही अधिक प्रमाणित मानते हैं। श्री हेमाशाह अहमदाबाद के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। तत्कालीन व्यापारी वर्ग पर उनका विशेष प्रभाव था। उनका जीवन सामाजिक तथा धार्मिक दोनो ही रूप से जनोपयोगी था, श्रावकधर्म-परायण श्री हेमाशाह के सरक्षण मे बालक लोकाशाह

का बाल्यकाल पूरी सुख-सुविधापूर्वक व्यतीत हुआ। छे-सात वर्ष की आयु मे उनका अध्ययन आरम्भ कराया गया। थोडे ही वर्षों मे उन्होने प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मधुरभाषी होने के साथ-साथ लोकाशाह अपने समय के सुन्दर लेखक भी थे। उनका लिखा हुआ एक-एक अक्षर मोती के समान सुन्दर लगता था। शास्त्रीयज्ञान की उनके मन मे विशेष रुचि थी। लोकाशाह अपने सद्गुणो के कारण अपने पिता से भी अधिक प्रसिद्ध हो गये। जब वे पूर्ण युवा हो गए तब सिरोही के प्रसिद्ध सेठ शाह ओघवजी की सुपुत्री 'सुदर्शना' के साथ उनका विवाह कर दिया गया। विवाह के तीन वर्ष बाद उनके यहा 'पूर्णचन्द्र' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

सच्चा पारखी

श्रीमान् लोंकाशाह का वैवाहिक जीवन पूर्ण सुखी था। अपनी कार्य-कुशलता, तथा सज्जनता के कारण उनका राज्य-भर मे सम्मान था। उनके पास जितना धन-सम्पत्ति का ऐश्वर्य था, उससे भी अधिक भरपूर उनके गुणो का भण्डार था। सदाचार और नैतिकता की तो वे साक्षात् मूर्ति थे। व्यावसायिक जगत् मे भी उनका अपना एक प्रमुख स्थान था। उनकी प्रामाणिकता की सब पर छाप थी। इन्ही दिनो मे एक-एक वर्ष के अन्तर मे उनके माता-पिता की मृत्यु हो गई। इस समय उनकी आयु लगभग चौबीस, पच्चीस वर्ष की थी। माता पिता की मृत्यु से बड़ा दुःख हुआ। संसार की अनित्यता उन्हे दिव्य-आत्मिक प्रेरणा देने लगी। संसार की किसी भी वस्तु का उनके घर मे अभाव नही था। फिर भी उन्हे गृहस्थ-जीवन से सन्तोष नही था। वे अपना आत्मिक प्रकाश जागृत करना चाहते थे। उस परम-

तत्त्व की खोज के लिए उन्होने अब विशेष प्रयत्न आरम्भ कर दिया। वे दिन-रात जब भी गृह-कार्य से अवकाश मिलता, धर्म-शास्त्रो का स्वाध्याय करते रहते। माता के स्वर्गवास के कारण व्यवसाय का सारा उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ चुका था। उनका मुख्य व्यवसाय जवाहरात का था। तत्कालीन जौहरियो मे उनकी 'परख' की एक धाक थी। अपने व्यापार मे वे अत्यत निपुण तथा प्रामाणिक थे। पुण्य-कार्यों का अवसर भी अपने हाथ से नही जाने देते थे। जितनी भी हो सकती थी समय-समय पर जनता की सहायता करते रहते थे। सिरोही राज्य के भयकर अकाल के समय उन्होने अपना धन, जनता की सेवा मे पानी की तरह बहा दिया था। प्रस्तर-रत्नो की अपेक्षा वे नररत्नो को विशेष महत्त्व देते थे। भगवान् महावीर की अहिसा मे उनका अटूट विश्वास था। उनकी दृष्टि बडी ही सूक्ष्म थी। जवाहरात की परख मे तो उनकी आँखे, चमत्कारपूर्ण काम करती थी।

सफल मंत्री

कहते हैं एक बार बादशाह मुहम्मद के दरबार मे 'सूरत' मे एक जौहरी दो मोती लेकर आया। बादशाह मोतियो को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। खरीदने की दृष्टि से उसने मोतियो का मूल्य जँचवाने के लिए अहमदाबाद शहर के सभी प्रमुख जौहरियो को बुलाया। सभी जौहरियो ने दोनो मोतियो को 'सच्चा' बताया। जब लोकाशाह की बारी आई तो उन्होने एक मोती को खरा और दूसरे को खोटा बताया। खोटे मोती की परख के लिए उसे एरन पर रखकर हथोडे की चोट लगाई गई। चोट लगते ही उसके टुकडे २ हो गये। मोती की इस परीक्षा को देखकर सारे जौहरी आश्चर्यचकित हो गए। लोकाशाह की विलक्षण-बुद्धि

देखकर वादशाह वहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हे अपना कोषाध्यक्ष वना लिया। कुछ इतिहासकारो का मत है कि वादशाह ने उन्हे अपने मत्री-पद पर नियुक्त किया था। इस पद पर वे दश वर्ष तक रहे। इन्ही दिनो चम्पानेर के रावल ने मुहम्मदशाह पर आक्रमण कर दिया। शत्रु के प्रति शिथिल नीति अपनाने के कारण उसके पुत्र कुतुवशाह ने जहर देकर अपने पिता को मार डाला। वादशाह की इस क्रूर हत्या से लोकाशाह के हृदय पर वडा प्रभाव पडा। अव वे राज काज से पूर्णतया विरक्तसे रहने लगे। कुतुवशाह ने उन्हे राज्य-प्रवंध मे पुन. लाने के अनेक प्रयत्न किये, किन्तु श्रीमान् लोकाशाह ने सव प्रलोभन अस्वीकार कर दिये।

सुन्दर लेखक

हम पीछे वता आये हैं कि श्री लोकाशाह के अक्षर वडे ही सुन्दर थे। वे नित्यप्रति अपने घर पर वैठकर कुछ न कुछ अवश्य ही लिखा करते थे। इसीलिए उनका नाम लेखको की श्रेणी मे प्रसिद्ध हो गया। एक दिन तत्कालीन प्रसिद्ध यति श्री ज्ञान सुन्दर जी लोकाशाह के घर आये। उन्होने उनके सुन्दर अक्षरो को देखकर विनोद मे कहा—शाह! तुम्हारे अक्षर वडे ही सुन्दर हैं, यदि तुम प्राचीन-शास्त्रो के संरक्षण मे इनका योग दे सको तो जिनवाणी माता की वडी भारी सेवा होगी। आगम साहित्य दिनोदिन विशीर्ण होता जा रहा है। उनके अक्षर मिट रहे हैं। यदि तुम थोडा सा समय निकालकर शास्त्रो की प्रतिलिपियां कर दो तो जिन शासन का वडा उपकार होगा। यति जी की प्रेरणा से श्री लोकाशाह जी ने शास्त्रो को लिखना आरम्भ कर दिया। आगम के रसिक तो वे पहिले से ही थे। श्रुत-ज्ञान के लेखन से उनके भाव और उन्नत हो गए। वे दिन

मे यति जी के लिए प्रतिलिपि करते और रात्रि मे उसी शास्त्र की अपने लिए प्रतिलिपि कर लेते। ज्यो ज्यो शास्त्र-लेखन आगे बढता रहा त्यो-त्यो आत्मचिंतन की गति तीव्र वेग से दौडने लगी। शास्त्र-लेखन कार्य के द्वारा बढते हुए शास्त्रीय ज्ञान से उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ कि वर्तमान साधु- समाज अपनी मुनिमर्यादाओ के विपरीत जा रहा है, सिद्धान्तो का सरक्षण करने वाला वर्ग ही सिद्धान्तो की अवहेलना कर रहा है, जीवन मे दम्भ अधिक प्रवेश कर चुका है। चैत्यवाद के नाम पर जनता को श्रद्धा के साथ खिलवाड की जा रही है। अपरिग्रही कहलाने वाले धर्म के नाम पर परिग्रह का सञ्चय कर रहे है। आगमो के अर्थो के अनर्थ करके भोली जनता को अपनी ओर आकर्षित किया जा रहा है। यह सब कुछ पढकर तथा आँखो से देखकर श्रीमान् लोकाशाह की आत्मा काँप उठी। उन्होने इस शास्त्र-विरुद्ध व्यवहार का प्रतिकार करने का दृढ सकल्प कर लिया। वे वीतराग के धर्म से जनता को परिचित कराना चाहते थे। जनता को दम्भ और पाखण्ड से बचाने का यही सरल उपाय था।

अथक प्रचारक

शास्त्र-लेखन के साथ-साथ अब वे अपने आगमानुसारी विचारो का भी लोगो मे प्रचार करने लगे। उनके क्रांतिकारी विचार बड़े वेग के साथ चारो ओर फैलने लगे। धर्म के नाम पर होने वाले प्रपंचो से जनता सजग होने लगी। धर्मदम्भी लोग उन्हे सशक दृष्टि से देखने लगे। शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ कराने वाले यति जी भी श्री लोंकाशाह के सत्य विचारो को सुनकर घबरा उठे एक दिन वे उनके घर पर आहार लेने गये। वहाँ शास्त्र की दो प्रतिलिपियाँ देख कर उनका हृदय आशंका से भर गया। उन्होने उसी क्षण से लेखन-कार्य बन्द करा दिया। शाह जी

अब तक जितनी प्रतिलिपियाँ कर चुके थे उन्ही के आधार पर उन्होने निर्ग्रन्थ धर्म का सच्चा स्वरूप जनता के सन्मुख रखना आरम्भ कर दिया। लोग वास्तविकता की ओर आकर्पित होने लगे। उधर विरोधियो ने भी अपने बचाव के लिए विरुद्ध प्रचार आरम्भ कर दिया। एक वार चारो ओर धर्म और अधर्म का सघर्प छिड गया।

अहमदावाद व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। अनेक देशो से व्यापारी लोग वहाँ आते थे। श्रीमान् लोकाशाह के विचार सहज ही मे उनके कानो तक पहुँच जाते थे। उनके सिद्धान्तो का दिनोदिन प्रचार तथा प्रभाव वढने लगा। चैत्यवासियो की अपेक्षा जनता श्री लोकाशाह की ओर अधिक आकर्पित होने लगी। विरोधी लोग इस प्रचार को सहन न कर सके। वे निरन्तर उनके विपय मे विरुद्ध प्रचार करते रहे।

सफलता का श्री गणेश

विक्रम सम्वत् १५२८ की वात है। अणहिलपुर के प्रसिद्ध सेठ लखमसो भाई श्री शाह के विचारो मे परिवर्तन लाने के लिए अहमदावाद आये। उन्होने श्रीमान् लोकाशाह से मूर्ति-पूजा आदि विपयो पर अनेक प्रश्नोत्तर किए। किन्तु शाह के विचारो को वदलते-वदलते वे स्वयं वदल गए। उनका अज्ञान मल एक दम धुल गया। उन्हे निश्चय हो गया कि मूर्ति-पूजा शास्त्र-विरुद्ध है। उनकी दृढ धारणा वन गई कि मूर्ति एक कला है। वह इतिहास की वस्तु वन सकती है, पर आध्यात्मिकता से उसका कोई सम्वन्ध नही है। श्री शाहजी ने जिनदास मेहत्तर तथा श्री हरिभद्र सूरि जी आदि अनेक पूर्ववर्ती विद्वान् आचार्यो के मूर्ति-पूजा-विरोधी विचारो से श्री लखमसी को अवगत कराया और

जिन शासन के अनेक तत्त्व उन्हे समझाये गये । जिनसे प्रभावित होकर सेठ लखमसी श्री शाह के शिष्य होकर वापिस चले गये ।

एक आदर्श गृहस्थ

यहां एक बात पर विचार करना आवश्यक है । कुछ विद्वानो का मत है कि श्री लोकाशाह ने जैन मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी । कुछ इतिहासकार इस बात का समर्थन करते है कि वे आजीवन गृहस्थ ही रहे । दीक्षा-पक्ष के विद्वान् अपने अनेक ढाल चौपाइयों के प्रमाणो से उन्हे दीक्षित होना सिद्ध करते हैं । उनका कहना है कि जैसलमेर के भण्डार मे ताडपत्राङ्कित एक प्राचीन पट्टावली मे श्री लोकाशाह के दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है । श्री ज्ञान यतिनिर्मित 'धर्म-परीक्षा' नाटक मे भी श्री शाह की दीक्षा के बारे मे यह उल्लेख मिलता है कि उन्होने वि० स० १५३६ के मार्ग शीर्ष शु० पंचमी को श्री ज्ञानमुनिजी के शिष्य श्री सोहनमुनिजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी ।

इसके विरुद्ध गृहस्थ-पक्ष के विद्वान् उन्हे गृहस्थ ही स्वीकार करते है । उनके पास अनेक प्राचीन पट्टावलियो के प्रमाण है, जिनमे लोकाशाह को गृहस्थ ही स्वीकार किया गया हैं । वि० स० १५४३ के लावण्यसमय कवि ने अपनी चौपाइयो मे स्पष्ट लिखा है कि लोकाशाह पोषध प्रतिक्रमण तथा पच्चक्खाण नही करता था वह जिनपूजा, अष्टापद तीर्थ तथा प्रतिमाप्रसाद का भी विरोध करता था । इससे यह तो स्पष्ट होता है कि यदि श्री लोकाशाह दीक्षित होते तो उन पर पौषध आदि क्रियाओ के न करने का आरोप न लगाया जाता । कुछ भी हो, भले ही उन्होने द्रव्यरूप मे दीक्षा न ग्रहण की हो पर उनके भाव तो दीक्षारूप ही थे । वे एक आदर्श गृहस्थ थे । उनका जीवन संयम-पोषक था । विक्रम

सम्वत् १५०६ मे पाटन मे श्री सुमतिविजय जी के पास उनके दीक्षित होकर श्री लक्ष्मीविजय, नाम से प्रसिद्ध होने के प्रमाण में कुछ तथ्य नही दीखता। यदि ऐसा हुआ होता तो उनके गच्छ का नाम लोंकागच्छ न पडता। क्यो कि 'लोकाशाह' उनका पूर्व का नाम था। इस प्रकार उनकी दीक्षा के विषय मे अनेक परस्पर विरोधी प्रमाण मिलने पर भी उनका गृहस्थ रहना ही अधिक सगत जँचता है, फिर भी इतिहास के विद्वानो को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता लगाने का प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए।

लोंकागच्छ की स्थापना

श्री लखमसी भाई के शिष्यत्व स्वीकार कर लेने के कुछ समय बाद सिरोही, अरहट्टवाडा पाटण और सूरत के चारो संघ यात्रा करते हुए अहमदाबाद आये। यहाँ श्री लोकाशाह जो के साथ चारो सघो के संघपति नागजी, दलीचंद जी, मोतीचन्द जी और शभुजी इन चारो प्रमुख पुरुषो ने अनेक तत्त्वचर्चाएँ की। श्री शाह की पवित्र वाणी का उन पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि संघ-समूह मे से ४५ पुरुष श्री लोकाशाह की प्ररूपणा के अनुसार दीक्षा लेने को तैयार हो गए। यहाँ श्री लोकाशाह की प्ररूपणा के अनु-सार दीक्षा लेने का प्रसग भी यही प्रमाणित करता है कि वे उस समय तक स्वयं दीक्षित नही हुए थे। गृहस्थवास मे ही उन्होने इन ४५ पुरुषो को प्रतिबोध दिया था। कहते है कि हैदराबाद की ओर विचरण करने वाले श्री ज्ञानमुनिजी को अहमदाबाद पधारने की प्रार्थना की गई। श्री मुनिराज २१ मुनिराजो के साथ अह-मदाबाद पधारे। वि०सं० १५२८ वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन ४५ पुरुषों को भागवती जैन दीक्षा प्रदान कर दी गई। श्री लोंकाशाह की विशेष प्रेरणा से ये दीक्षाएँ हुई थी। अत इसी

स्मृति मे यहाँ पर समस्त मुनियो के संघटन का नाम लोकागच्छ रखागया। लोकागच्छ की एक पृथक् तथा शास्त्र-सम्मत समाचारी तैयार की गई। उसके अनुसार चलने वाले मुनियो को शुद्ध साधु स्वीकार किया गया। छासठ मुनिराजो ने सर्वप्रथम इस समाचारी पर चलने का दृढ संकल्प किया। मुनिराजो ने अपने उपकारी के नाम-स्मरण के लिए ही गच्छ का यह नाम चुना था।

चतुर्विध संघ-निर्माण

साधु मुनिराजो का पूर्ण सहयोग मिलने से श्री लोकाशाह के विचार बडी ही द्रुत गति से घर-घर पहुँचने लगे। जनता बडे ही वेग के साथ इन विचारो की ओर आकर्पित होने लगी। थोडे ही वर्षो मे लोकागच्छ के साधुओ की संख्या चारसौ तक पहुँच गई। लाखो की संख्या मे श्रावक उनके अनुयायी हो गए।

वि० स० १५३१ के लगभग अनेक स्त्रियो के भी लोकागच्छ मे दीक्षित होने के प्रमाण मिलते है। उनमे श्री सोमाजी, गोधाजी तथा श्री इन्द्राजी के नाम विशेषरूप मे उल्लेखनीय है। ये सब दीक्षाएँ श्री 'चरणा' महासतीजी के श्रीचरणो में हुई थी। श्री चरणाजी ज्ञानमुनिजी की परम्परा मे से थी। उस प्रकार लोकागच्छ के चतुर्विध सघ का निर्माण बड़े ही सुन्दर ढंग मे हो गया। सभी मुनिराज तथा महासतियांजी मुनि-मर्यादा-पालन मे पूर्ण दृढ थे। उनका आदर्श जीवन तत्कालीन शिथिलाचारियो के लिए एक महान् चुनौती था।

अबाधित प्रचार

कर्तव्यपरायण मुनिराजो के धर्म-प्रचार से चैत्यवादियो मे खलबली मच गई। असत्य के पैर उखड गये। लोकागच्छ दिन दुगुनी

रात चौगुनी उन्नति करने लगा। विरोधियो ने लोकाशाह तथा उनके अनुयायियो पर अनेक असत्य आक्षेप लगाये। पर कोई भी आक्षेप उस सत्यवीर के प्रचार को न रोक सका। जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होते ही अन्धकार समाप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार लोकासिद्धान्तरूप शास्त्रीय सूर्य का उदय होने पर मिथ्या, पाखंड का अधकार समाप्त हो गया। जनता धर्म की वास्तविकता को समझने लगी। अब यह तथ्य किसी से भी छिपा न रह सका कि.—मूर्तिपूजा जिन-शासन-सम्मत नही है। यह तो स्वार्थ-लोलुपी लोगो का चलाया हुआ मार्ग है। आत्मा की सत्ता मे विश्वास करने वाले साधक के लिए मूर्ति-पूजा की कोई उपयोगिता नही है। भगवान् की मूर्ति बनाकर उस पर नानाप्रकार के व्यञ्जन चढाना, किसी भी प्रकार उचित नही है। पूर्ववर्ती जितने भी सम्यक्त्वी आचार्य हुए है उन सभी ने मूर्ति पूजा को अनावश्यक बताया है। साधु को केवल उसके गुणो से ही पूज्य माना जाता है। साधु का वेश पहन कर पालकी मे बैठना, मृतको के पगले पुजवाना। मूर्त्ति पूजा के नाम पर धन-सग्रह करना, कल्याण का मार्ग नही है। यह तो पतन का रास्ता है। धर्मवीर लोकाशाह के सिद्धान्त-प्रचार से भोली जनता चैत्यवासियो के चगुल मे मुक्त होने लगी। यह जिन-शासन के सौभाग्य का समय था। जनता के मन-मानस मे सच्चे साधुओ की प्रतिष्ठा पुन स्थापित होने लगी। स्थान-स्थान नगर-नगर और शहर-शहर मे शास्त्रार्थ सभाएँ होने लगी। मूर्त्ति-पूजा के हिमायती सभी जगह परास्त होते चले गये। यह सारा प्रचार दश-बारह वर्षो के थोडे से समय मे ही हुआ था। सूर्य का उदय होने पर—अंधकार के छटने मे अधिक समय नही लगता। लगभग भारत के सभी प्रमुख प्रान्तो मे श्रीमान् लोकाशाह का प्रचार पहुँच चुका था।

धर्मप्राण का स्वर्गगमन

धर्मप्राण श्री लोकाशाह के स्वर्गवास के विषय मे भी अनेक मतभेद हैं। यतिराज भानुचन्द्रजी का मत है कि धर्मवीर लोकाशाह का स्वर्गवास विक्रम सम्वत् १५३२ मे हुआ था। लोकागच्छीय यति श्री केशवजी उनका स्वर्गवास ५६ वर्ष की अवस्था मे वि० स० १५३३ मे मानते है। वीर-वंशावली मे उनका स्वर्गवास काल १५३५ माना है। प्रभु वीर पट्टावली के लेखक श्री मणिलाल जी महाराज ने लोकाशाह के स्वर्गवास का समय १५४१ निर्धारित किया है। ये सभी प्रमाण एक दूसरे मे भिन्न है। इनमे १५४१ का काल ही उचित लगता है। उनके स्वर्गवास के विषय मे भी अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। कोई तो उनका स्वाभाविक मृत्यु मानते हैं। कोई उन्हे विरोधियो के द्वारा विष देकर मारा गया बताते हैं। इनमे दूसरे 'विपप्रसग' के प्रमाण अधिक पुष्ट मिलते है। एक प्रमाण मे उनका स्वर्गवास स्थान अलवर माना गया है।

कुछ भी हुआ हो, उनका जीवन और मरण दोनो ही संसार के लिए आदर्श थे। वे एक वीर योद्धा की भाँति संसार मे आये और कर्त्तव्य-निष्ठ सैनिक की भाँति अपने जीवन का बलिदान कर गये। सच तो यह है कि उन्हे पाकर जीवन धन्य हुआ और अन्त मे उनका दर्शन करके मृत्यु भी धन्य हो गई।

लोंकागच्छ की समाचारी

महापुरुष अपने जीवन मे कुछ अटल सिद्धान्तो को लेकर चलते है। सत्य-सिद्धान्तो पर चलते-चलते अन्त मे उनका जीवन ही सिद्धान्त बन जाता है। साधु-संस्था के कल्याण के लिए श्रीमान् लोकाशाह तथा उनके समर्थकों ने अनेक आगमसम्मत

नियमो का निर्माण किया था। इन नियमों पर चलने से साधु तथा श्रावक दोनो का हित हो सकता है। प्राचीन शास्त्र-भण्डारो मे इन नियमो के अनेक पत्र प्राप्त होते है। उन सभी नियमो का लिखना यहाँ आवश्यक नही है। उनमे से कुछ उपयोगी नियम जानकारी के लिए यहाँ दिये जारहे है।

१–आगमसम्मत टीकाओ को ही प्रामाणिक माना जाय।
२–आगम के अनुसार दृढतापूर्वक सयमी जीवन व्यतीत किया जाय।
३–धर्मदृष्टि मे 'प्रतिमा-पूजन' शास्त्रसम्मत नही है।
४–शुद्ध सात्त्विक शाकाहारी प्रत्येक कुल का आहार लिया जा सकता है।
५–स्थापनाचार्य की स्थापना की कोई आवश्यकता नही है।
६–उपवास आदि व्रतो मे सभी प्रकार का प्रासुक जल लिया जा सकता है।
७–पर्व-तिथि के बिना भी उपवास किया जा सकता है।
८–साधुओ को मत्र-तत्र तथा यत्र आदि विद्याओ का प्रयोग नही करना चाहिए।
९–श्रावक भिक्षा कर सकता है, पर दान नही ले सकता।
१०–दया भाव से गरीबो को दान देना पाप नही है, अपितु पुण्य का कारण है।
११–दण्ड नही रखा जाना चाहिए।

इसी प्रकार के और भी अनेक नियम बनाये गये थे। जिनका पालन तत्कालीन लोकागच्छीय साधु जन बडी ही दृढता के साथ करते थे। इसी दृढ साधुत्व के कारण लोकागच्छ ने जनता में लोकप्रियता प्राप्त की थी। सच्चे साधुत्व का धर्म-प्रेमी जनता सदा से सम्मान करती आई है।

एक सिंहावलोकन

धर्मप्राण लोंकाशाह ने जिस सत्य का सिंहनाद किया था, उसके पीछे कोई मत, पन्थ या सम्प्रदाय चलाने की सकुचित भावना उनके मन मे नही थी। संसार मे पूजा अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने का भी उनका कोई सकल्प नही था। सुधारक या क्रान्ति-स्रष्टा वनकर यशोपार्जन की कामना भी उनके हृदय मे नही थी। वे तो सच्चे हृदय से अपना और दूसरे जीवो का कल्याण चाहते थे। सवको सुख की राह वताने का ही उनका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य था। सत्य को स्वय समझकर फिर उसे जनता के सम्मुख रखना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसी शुभ संकल्प की पूर्ति के लिए उन्होने अपने सुख ऐश्वर्य के समस्त ठाठ वाट को कल्याणपथ की वलि-वेदी पर चढा दिया था। इतना करने पर भी अनेक अंधविश्वासी धर्मवीर लोकाशाह को अच्छी तरह नही समझ पाये। वर्तमान मे भी ऐसे अनेक व्यक्ति है जो अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण उस नरपु गव के आदर्श-जीवन को नही समझ पारहे है। यह उनके पूर्वसचित कर्मों का ही दोष है कि वे साक्षात् सन्मुख खडे सत्य का भी दर्शन नही कर पा रहे हैं।

धर्ममूर्ति लोकाशाह के सन्मुख विरोधियो का एक बहुत वडा दल था। किन्तु वे किंचित् भी घवराये नही। जिस प्रकार भी वन सका अपना सत्य प्रचार कर लेते हैं पर विरोधियो मे अपने सिद्धान्तो का प्रचार करना कोई आसान काम नहीं है। लोकाशाह इसके अपवाद थे। उन्होने अपने विरोधियों मे निर्भीकतापूर्वक दिल खोलकर अपने शास्त्रीय तत्त्व-ज्ञान का प्रचार किया था। रागद्वेष की दावाग्नि मे शांति का प्रचार कोई समर्थ व्यक्ति ही कर सकता है। उनके सभी प्रचार अहिंसात्मक होते थे। उनमे

असत्य का किंचिन्मात्र भी लेश नही था। सत्य को छिपाने की चोरी उन्होने कभी नही की। ब्रह्मचर्यसम्मत सदाचार की प्रतिष्ठा उनकी रग-रग मे व्याप्त थी। वे सासारिक महान् ऐश्वर्य पाकर भी निर्लिप्त कमल के समान थे। उनकी तत्त्व-विवेचनशैली बडी ही विलक्षण थी। वे चतुर्विध सघ के सफल चिकित्सक थे। सैकडो वर्षो के पाखण्ड रोग को उन्होने बडी ही कुशलता के साथ थोडे ही दिनो में समाप्त कर दिया था। उस पक्षपात के युग में समाज को स्वस्थ विचारधारा देना उन्ही के वश की बात थी। विरोधी दूर मे ही उनका विरोध कर पाते थे। समीप आने पर तो उनका विरोध ही शात हो जाता था। सत्य तो यह है कि लोकाशाह के अनुयायियो मे अधिक सख्या उन्ही लोगो की थी, जो पहले उनका जी भर कर विरोध करते थे।

पिछली शताब्दियो मे अनेक ऐसे आचार्य हो चुके थे, जो साधु-समाज के शिथिलाचार मे अत्यन्त दुखी थे। जिन चन्द्रसूरी (सघ पट्टावलीकार) और हरिभद्र जैमे अनेक उद्भट विद्वानो के पुरातन लेख इस विषय मे प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है। उन सबके विचार ग्रन्थो तक ही सीमित रह गये। शिथिलाचार से लोहा लेने की हिम्मत कोई नही कर पाया। निर्भीक धर्मात्मा लोकाशाह का हो उस युग मे एक ऐसा व्यक्तित्व था, जो सभी बुराइयो से डटकर जूझ सका और शासन के सम्मान को सुरक्षित कर सका। वह श्रावक था, पर साधुओ को भी शिक्षा दे गया। उसके पास विराट् आत्मिक-शक्ति थी। एक महान् चरित्र-बल था। इसी बल के सहारे वह अनेक विघ्न-बाधाओ को चीरता हुआ, अपने लक्ष्य तक पहुँच गया। जब तक संसार मे चतुर्विध सघ का एक भी सदस्य रहेगा, उस महापुरुष की कीर्ति-गाथाएँ गाता ही रहेगा। धर्म-प्राण लोकाशाह भगवान् महावीर के अमर पुत्र थे।

हमारे देश को आज लोकाशाह जैसे वीर पुत्रो की अत्यन्त आवश्यकता है।

लोंकाशाह और स्थानकवासी समाज

धर्मप्राण लोकाशाह ने अपने जीवनकाल मे किसी नये मत पन्थ या सम्प्रदाय की स्थापना नही की थी। उनका उद्देश्य तो केवल धर्म-जागृति करना था। साम्प्रदायिक संकुचित भावनाओ मे वे कोसों दूर थे। वे श्रमण-धर्म के सच्चे प्रचारक थे। सच्चे श्रमणो को ही वे अपना धर्मगुरु मानते थे। उनकी आस्था त्याग मे अधिक थी। इसी कारण उनका प्रचार सदा स्वतत्र और निर्भीक रहा था। उनके अनुयायिओ ने अपने उपकारी के उपकारो की स्मृति के लिए ही लोकागच्छ की स्थापना की थी। उनकी भावना भी इसे साम्प्रदायिक रूप देने की नही थी। वास्तव में लोकागच्छ एक अनुशासनिक सस्था थी। साधु-समाज के पुनर्निर्माण मे इस सस्था का पूरा-पूरा योग रहा था। इतिहास मे केवल लोकागच्छ का नाम ही यत्र तत्र देखने मे आता है। अन्य किसी भी नाम का कोई उल्लेख नही मिलता। तत्कालीन साधु-समाज के रहन-सहन, वेश-भूषा, आदि का भी कोई समुचित उल्लेख नही मिलता। श्रीमान् लोकाशाह के बाद लोकागच्छ किस नाम से प्रचलित रहा, यह आज अत्यन्त शोध का विषय है। इतना तो अवश्य निश्चित है कि वर्तमान मे प्रचलित श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-समाज लोकागच्छ की वर्तमानकालीन कडी है। इसी समाज मे हमे आज सही रूप मे श्री लोकाशाह-सिद्धान्त के दर्शन होते है। आज के धर्मस्थानक' प्राचीन श्रावको की पोषधशालाओ के रूपान्तर हैं। स्थानको मे धर्मध्यान करने के कारण जनता इन्हे स्थानकवासी कहने लगी। प्रारम्भ मे स्थानकवासी शब्द श्रावको के लिए प्रयुक्त हुआ था। बाद मे श्रावक-

समाज के परम आराध्य मुनिराजो के लिए भी इसका प्रयोग होने लग गया। स्थानक शब्द एक गुण-गरिमापूर्ण शास्त्रीय-शब्द है। जैन-शास्त्रो में चौदह गुणस्थानकों का वर्णन आता है, इन गुणस्थानो मे आत्मा के क्रमिक विकास का इतिहास निहित है। अथवा इन्हे यो भी कह सकते है कि गुणस्थानक, मोक्षधाम की चौदह सीढियाँ है। हमारे धर्मस्थानो के लिए प्रयुक्त 'स्थानक' शब्द के पीछे भी एक धार्मिक परम्परा का इतिहास है। वर्तमान का स्थानकवासी समाज उस परम्परा का ज्वलंत प्रमाण है।

लोंकाशाह के सहयोगी और परम्परा

धर्मवीर लोंकाशाह एक असाधारण पुरुष थे। उनका मति-ज्ञान बड़ा ही निर्मल था। उनके जीवन में सुन्दरता ही सुन्दरता थी। अपने नगर अहमदाबाद मे वे बड़े ही राज्यमान प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। लोग उन्हे 'महताजी' कहते थे। बाल्यकाल मे ही उनकी धर्म तथा धर्मशास्त्रों मे रुचि थी। उनका शास्त्रीय-ज्ञान बड़ा ही विशाल था। उन दिनो का यतिवर्ग अपने साधनापथ से विचलित हो चुका था। श्री पूज्य लोग सामन्तो की भाँति छड़ी, चामर, छत्र और पालकी आदि का खुला प्रयोग करते थे। साधुता के नाम पर भोगवाद को प्रोत्साहन मिल रहा था। यंत्र, मंत्र और तंत्रो द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति का प्रचार बढ रहा था। ज्योतिष और वैद्यक विद्या के द्वारा यतिलोग अपना जीवन निर्वाह करने लग गये थे। उनमे शिथिलता बढ चुकी थी। 'सयम' नाम का शब्द केवल उपदेशो मे रह गया था। ऐसे समय मे लोंकाशाह ने अपनी धर्म-गर्जना की। उनके सिंहनाद मे पाखण्ड की दीवारे हिल उठी। जनता का

सोया हुआ धार्मिक भाव पुन. जाग उठा। यतियों ने वीर लोकाशाह के प्रचार को रोकने के अनेक षड्यन्त्र रचे, पर शास्त्रीय सूर्य के सन्मुख अन्धकार कैसे टिक सकता है ? चारो ओर सत्य का प्रकाश फैल गया। उस धर्म-देवता के प्रवचनो से प्रभावित होकर रूपचन्द्र शाह लखमसी जैसे पाटन के प्रसिद्ध व्यक्तियो का अन्ध-विश्वास भी बदल गया। उनके ज्ञान-कपाट खुल गये। पैंतालीस मुमुक्षुजनो ने श्री ज्ञानमुनिजी के पास दीक्षाव्रत स्वीकार करके जनता के सन्मुख मुनिधर्म का आदर्श उपस्थित कर दिया। अनेक सहयोगी इस प्रचार मे कूद पडे। काफी समय तक यह धर्म-प्रचार को परम्परा अवाध रूप से चलती रही। लोकागच्छ की छत्रछाया मे भगवान् महावीर के सिद्धातो का द्रुतगति से प्रचार तथा प्रसार बढ रहा था। अभी तक यह संगठन साम्प्रदायिक वधनो से मुक्त था।

श्रीमान् लोकाशाह जी की प्रेरणा से दीक्षा लेने वाले ४५ नरपुंगवो में 'श्री भाण जी' सर्व प्रमुख थे। ये सिरोही के रहने वाले पोरवाड जाति के थे। लोकागच्छ का सर्वप्रथम नेतृत्व आपको ही सौपा गया था। आप एक प्रतिभा-सम्पन्न कुशल मुनिनायक थे। श्री भीदाजी, नूनाजी, परम त्यागी श्री भीमाजी, केशवजी, रतनजी, श्री जगमालजी तथा श्री सोनजी आदि अनेक महापुरुषो के सहयोग से लोकागच्छ की खूब उन्नति हुई। विक्रम सम्वत् १५६२ मे अणहिलपुर पाटण निवासी श्री रूपचन्द जी स्वय प्रतिवोधित संत हुए। ये वड़े ही समयज्ञ तथा शास्त्राभ्यासी मुनिराज थे। 'श्री रूपऋषि' के नाम से इनकी अधिक प्रसिद्धि है। इनका व्यक्तित्व वडा ही महान् था। लोकाशाह—सिद्धातो के ये प्रवल समर्थक थे। इनकी तर्क शक्ति वडी विलक्षण थी। इन्होने छोटी उम्र मे ही दीक्षा ग्रहण करली थी। कुछ ही वर्षो में इन्हे

अपने तपोबल के सहारे विशेष आत्म-सिद्धि प्राप्त हो गई। अपने काल मे आपने गच्छ का उत्तरदायित्व बड़ी कुशलता से निभाया। लगभग इन्ही दिनो मे श्री जीवाजी ऋषि हुए है। इनका जन्म १५५१ माघ कृष्णा द्वादशी का माना जाता है। विक्रम सम्वत् १५७८ मे इन्होने दीक्षाव्रत स्वीकार किया। श्री रूपऋषि जी के स्वर्गवास के बाद १५८५ विक्रमार्क में लोंकागच्छ के आचार्य पद का भार आपको सौंप दिया गया। श्री जीवाऋषि जी महाराज अपने समय के प्रचारक मुनिराज थे। इनकी व्याख्यान-शैली बड़ी ही रोचक थी। सूरत शहर के ६०० घर आपके उपदेशो से प्रभावित होकर श्रावक धर्म मे दीक्षित हुए थे। कितने ही इतिहासकार श्री जीवाऋषि को पाँच क्रियोद्धारको में मानते है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये जीवा ऋषिजी क्रियोद्धारक श्री जीवराज जी महाराज से भिन्न हैं। लोंकाशाह के उदय से लेकर अब तक लोंकागच्छ के साधुओ की संख्या ११०० तक पहुँच चुकी थी। इस काल के सभी मुनिराजो का मुख्य रूप से प्रचार का ही दृष्टिकोण रहा था। लोंकागच्छ के मुनिराज नियमानुसार अपने संयमव्रत का पालन करने में तल्लीन थे। उनमे अभी तक शिथिलता का प्रवेश नही हो पाया था। क्रियोद्धार महायज्ञ का शुभारम्भ सत्तरहवी शताब्दी के दूसरे जीवराज जी महाराज से हुआ है।

लोंकागच्छ के अधिपति श्री जीवाऋषि जी महाराज के तीन प्रधान शिष्य थे। श्री कुंवर ऋषि जी, श्री वृद्धवरसिंह जी, तीसरे श्रीमल जी। गुरुदेव के स्वर्गवास के बाद श्री वृद्धवरसिंह जी गच्छ से अलग हो गये। परिणामस्वरूप लोंकागच्छ तीन भागो मे विभक्त हो गया—

१ गुजराती लोकागच्छ

२ नागौरी लोकागच्छ

३ उत्तरार्ध लोकागच्छ

इस विभाजन के परिणामस्वरूप लोंकागच्छ की एकता टूट गई। सम्प्रदायवाद का विष साधु समाज मे प्रवेश कर गया। इन तीनो गच्छो मे श्री रत्नसिंहजी, श्री केशवजी श्री शिवजी तथा श्री कहानजी आदि अनेक महा-पुरुष हुए। सबने अपने-अपने गच्छ के नाम से श्री लोकागच्छ की कीर्ति बढाई।

श्री वरसिंह जी के स्वर्गवास के बाद श्री यशवत जी गच्छ के आचार्य पद पर आये। ये गुजराती लोकागच्छ के थे। इन्ही दिनो मे श्री सोनजी के शिष्य श्री वज्रागजी स्वामी हुए है। ये बडे भारी विद्वान् थे। शास्त्रीय ज्ञान तो उनका विशाल था, पर क्रिया मे कुछ शिथिल थे। यतियो की प्रवृत्तिप्रधान परम्परा ने उन्हे आकर्षित कर लिया था। यही मे लोकाशाह की परम्परा मे शिथिलता प्रवेश पा गई। जो साधु अपने कर्तव्य को पहचानते थे, वे तो अपने संयम मार्ग पर दृढ रहे। दूसरे जो यति परम्परा की ओर खिच गये, वे अपने पथ से विचलित हो गए। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि यति लोग सयम की दृष्टि से शिथिल थे तो भी धर्म-सुरक्षा और धर्म-प्रभावना की भावना उनमे पूर्ण-रूप मे विद्यमान थी। यति-समाज ने अपने वर्चस्व मे अनेक धर्म सरक्षण के अभूतपूर्व कार्य किए है। उनके मन मे अपने धर्म के प्रति पूर्ण अपनत्व था।

लोकाशाह की परम्परा पूरी एक शताब्दी तक चलती रही। बाद मे पारस्परिक अनैक्य के कारण उसमे अनेक दोप

आ गये। जिनके कारण धर्म-प्रचार का आन्दोलन मन्द पड गया। धर्म के नाम पर आपस मे कलह होने लगा। धर्म के उपदेष्टा अपने मार्ग से पिछडने लगे। ऐसे विकट समय मे देश को एक वार फिर किसी लोकाशाह को आवश्यकता हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ महापुरुष क्रिया उद्धार का सन्देश लेकर जनता मे आये। जिन्होने श्रीमान् लोंकाशाह के पवित्र सिद्धान्तो का पूरी शक्ति लगाकर समस्त देश मे प्रसार किया।



प्रकरण छठा

आवश्यकता आविष्कार की जननी है

जब जब देश में धार्मिकता, सामाजिकता तथा राष्ट्रीयता का लोप हुआ है तब तब कोई न कोई महापुरुष अवश्य ही अवतरित हुआ है। यह सिद्धान्त आज का नहीं अनादिकाल से चल रहा है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि—

जब जब होती है हानि धर्म की भारी।
तब तब लेते हैं जन्म धर्म ध्वज धारी॥

हम पिछले प्रकरण में बता आये हैं कि श्री जीवाजी ऋषि महाराज के स्वर्गवास के बाद लोंकागच्छ तीन धाराओं में बँट गया। श्री जीवाजी के शिष्य श्री वरसिंहजी जब अपने बड़े गुरुभाई श्री कुँवर जी से पृथक् हो गये तो वि० सं० १६१३ ज्येष्ठ कृष्णा दशमी के दिन बड़ौदा के भावसारों ने आपको श्री पूज्य की पदवी पर स्थापित कर दिया। यहीं से गुजराती लोंकागच्छ की स्थापना हुई। श्री जीवाऋषिजी महाराज ने श्री कुँवर जी की शास्त्रार्थ-शक्ति से प्रभावित होकर इन्हें वि० सं० १६१२ में पूज्य पद पर स्थापित कर दिया था। इसी कारण इनसे श्री वरसिंह जी पृथक् हो गए थे। श्री कुँवर जी के बाद

श्री मलजी-आचार्य पदासीन हुए। इनके शिष्य श्री रत्नसिंह जी हुए। इनकी दीक्षा १६४८ मे हुई थी। इनके शिष्य श्री शिव जी ऋषि हुए। इनकी दीक्षा १६७० मे हुई थी और १६८८ में आचार्य पदवी प्राप्त हुई। इन्ही आचार्य शिवजी के शिष्य श्री हीरागरजी हुए हैं ये अपने समय के बडे सुधारक तथा सयमी सत थे। अनेको यतियो को आपने सन्मार्ग पर लगाया। आप नागौर के निवासी थे। इसलिए आपने अपनी साधु शाखा का नाम नागौरी लोंकागच्छ रखा। प्रसिद्ध आचार्य श्री मनोहरदास जी म. भी इसी गच्छ के अधिनायक हुए हैं। उत्तरार्ध लोंकागच्छ की स्थापना के विषय में अभ तक कोई प्रमाणित सामग्री दृष्टि-गोचर नही हो पाई है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि श्री जीवाजी महाराज की परम्परा के किसी विद्वान् संत ने इसकी स्थापना की होगी। पजावप्रात की ओर विचरण करने वाले संत इसी शाखा से सम्बन्धित हैं। धर्मवीर लोंकाशाह से लेकर श्री जीवा ऋषि जी म० तक शुद्ध सयमी साधुओं का पूर्ण वर्चस्व था। गच्छ की अनुशासन-व्यवस्था उचित रूप से चल रही थी बाद मे अनैक्य होने पर गच्छ के साधुवो का संयम-स्तर गिरने लगा। यतिसमाज का प्रभाव फिर बढने लगा। आगम-विरुद्ध अनेक मान्यताएँ पुन: प्रचलित हो गईं।

यति शब्द का बदलता रूप

आदि काल में यति शब्द साधु के अर्थ मे लिया जाता था। यति शब्द की व्युत्पत्ति यम् और यत् इन दो धातुओ से हुई है। यमनात् नियंत्रणात् इति यतिः अथवा यमात् धारणात् यति: अर्थात संयम का प्रयत्न करने से और इन्द्रियो को वश मे रखने से यति होता है। आगम के अनुसार पंचयमो—महाव्रतो के पालन करने

वाले को यति कहते हैं। पूर्व काल मे बहुत समय तक यति शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। धीरे-धीरे जब यति समाज मे शिथिलाचार बढने लगा तो यति शब्द का प्रयोग साधुवों मे भिन्न. शिथिल वर्ग के अर्थ मे लिया जाने लगा। श्रीमान् लोंकाशाह से पूर्व साधु धर्म से पिछडे हुए यति-वर्ग का बडा जोर था। उस समय यतियो के साथ ही उनका संघर्ष रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्षो मे पिछडा हुआ आत्म साधन का मार्ग पुनः प्रशस्त हो गया। जड उपासना के स्थान पर आत्म उपासना का महत्व बढ गया। किन्तु काल की गति बडी विचित्र है। 'नोचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' अर्थात् गाडी के पहिये के समान ससार मे सब की दशा का परिवर्तन होता रहता है। सत्तरहवी शताव्दी के प्रथम चरण तक लोकागच्छ को धार्मिक प्रगति पूर्ण रूप से चलती रही। बाद मे जितने वेग से उसका विकास हुआ था, दुर्भाग्यवश इतने ही वेग से उसमे चारित्र की शिथिलता घुस गई। जनता को सच्चा मोक्ष-मार्ग बताने वाला वर्ग एक बार फिर स्वय अपना रास्ता भूल गया। सही मार्ग बताने वालो की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

चतुर्मुखी क्रियोद्धार की दिव्य-ध्वनि

ऐसे समय में पाच महा पुरुष देश मे अवतरित हुए :-

१. श्री जीवराज जी महाराज।

२ श्री लवजी ऋषिजी महाराज।

३. श्री धर्मसिंह जी महाराज।

४. श्री धर्मदासजी महाराज।

५. श्री हरजी ऋषिजी महाराज।

इन पाचो मुनि पुङ्गवो ने चारों दिशाओ मे फिर से सत्य-धर्म का सिंहनाद किया था। जनता का सोया सिंहत्व पुन॰ जागृत हो गया। सबको अपने-अपने कर्त्तव्य का बोध होने लगा। धार्मिक जगत् यति और साधु के अन्तर को अच्छी तरह समझने लगा। भोगवाद पर योगवाद की विजय आरम्भ हो गई। राग-भाव को त्यागभाव ने जीत लिया। मूर्ति पूजा आदि शास्त्र-विरुद्ध क्रियाकाण्ड मे हटकर धर्म पिपासु लोग. आत्मदेव की आराधना करने लगे। अज्ञान अधकार छटने लगा। चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। अपना भला-बुरा सबको अपनी आखो से दिखने लगा। परावलम्बन के बन्धन मे मुक्त होकर लोग, स्वावलम्बन को अपनाने लगे। इन सब अच्छाइयो का श्रेय उपरोक्त पाच महापुरुषो को प्राप्त हुआ।

सर्वश्री जीवराज जी महाराज

महापुरुष अपने जीवन मे एक विशेष प्रकार का कर्त्तव्य-क्षेत्र चुनते हैं। वे मानवता के प्रतिनिधि बनकर ससार में आते है। उनका जन्म जगत् को जीवन प्रदान करता है। उनका जीवन जागरण का दिव्य सन्देश देता है। वे अन्तिम समय तक समाज के अनैतिक तत्वों से जूझते रहते हैं। उनकी आत्मा का एक महान् लक्ष्य होता है। जब तक वे अपने लक्ष्य तक पहुच नही जाते तब तक निष्प्रमाद-गति से चलते ही रहते हैं। ऐसे महापुरुष जिस समाज, देश, अथवा राष्ट्र मे जन्म लेते हैं। उनका इतिहास युगों-युगो के लिए अमर हो जाता है।

भगवान् महावीर से लेकर लोकाशाह युग की समाप्ति तक श्रमण परम्परा मे, उत्थान तथा पतन के अनेक चक्र आये हैं। सयम साधनाशील सन्त-समुदाय ने अनेक बार मारणान्तिक

संघर्षों से टक्कर ली है। फिर भी वे घबराये नही है। भयभीत नही हुए हैं। दिनोदिन अपनी साधना के मार्ग मे बढते ही रहे है। उनकी परम्परा अभी तक अविच्छिन्न रूपसे चली आई है। जब तक इक्कीस हजार वर्ष पूरे नही हो जाते श्रमण सस्था समुचित रूप से चलती ही रहेगी। यह हमारा अपना नही सर्वज्ञ भगवान् की वाणी का उद्घोष है। श्री जीवराज जी महाराज उसी भगवान् महावीर की साधु सम्प्रदाय की एक दिव्य विभूति हुए है।

सामग्री के अभाव में भी इतिहास सुरक्षित

उनके जन्म तथा माता-पिता आदि के विषय मे अभी तक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हो पाई है। कुछ विद्वान् उनका जन्म स्थान 'सूरत' तथा उनके पिता-माता का नाम वीरजी बोरा और केशर बाई मानते है। किन्तु सत्तरहवी शताब्दी के अंतिम चरण मे होने वाले महापुरुष श्री लवजी ऋषि के नाना के लिए भी इन्ही संज्ञाओ का उल्लेख मिलता है। निश्चित रूप से इस विषय मे कुछ भी कहा जाना सभव नही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके पारिवारिक जीवन के विषय में जो किवदन्तियां प्रचलित है उनमे ऐसा प्रतीत होता है कि श्री जीवराजजी महाराज का तत्कालीन किसी ऊंचे वश मे सम्बन्ध अवश्य होगा। यति परम्परा मे उन दिनो अधिकाश व्यक्ति अच्छे सम्पन्न परिवारो मे से आते थे। कुछ भी हो उनका बाल्यकाल किसी संस्कारित परिवार की देख-रेख मे संस्कारवान् बनाथा। वे बडे ही कुशाग्र बुद्धि वाले थे। प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न होने पर भी उनका जीवन इतिहास समाज के विश्वासो मे पूर्णरूपेण सुरक्षित है।

दीक्षा और शास्त्राभ्यास

कुछ इतिहासज्ञो का मत है कि श्री जीवराज जी का विवाह भी हुआ था। उनके यौवन का कुछ भाग वडे ही आमोद-प्रमोद मे वीता था। गृहस्थ के इस सुख मे कुछ ही दिनो मे वे उदासीन हो गये। सासारिक विषय विकारो के प्रति उनके मन मे घृणा उत्पन्न हो गई। उनका मन वैराग्य के महासागर मे हिलोरे मारने लगा। वचपन से ही वे साधु सतो की संगति के प्रेमी थे। जब-जब और जहा-जहां उन्हे सत्सग का प्रसंग मिलता उससे वे अवश्य ही लाभ लेने का प्रयत्न करते थे। सत्सगति के प्रभाव के कारण उनकी भावना ससार से ऊपर उठने लगी। वे भोग के पथ से हटकर योग के महा पथपर चलना चाहते थे। इसके लिए उन्होने प्रथम गृहस्थ मे रहकर ही दृढ साधना करनी आरम्भ करदी। जब उनका आत्मविश्वास पूर्ण रूप से दृढ हो गया तो उन्होने अपने माता पिता, पत्नि आदि से दीक्षा लेने की अनुमति मागी। पहिले तो उनके सम्वन्धीजनो ने उन्हे ऐसा करने से रोका पर अन्त मे जब उनका दृढ तथा निश्चित निर्णय देखा तो उन्हे दीक्षा लेने की आज्ञा देनी पडी।

उन दिनो 'पीपाड शहर' मे लोकागच्छ के यति श्री तेजराज जी विराजमान थे। ये अपने समय के वडे प्रसिद्ध यतिराज थे। जनता की उनमे अटूट श्रद्धा थी। श्री जीवराज जी, यति जी की प्रसिद्धि सुनकर उनकी सेवा मे आये। यति जी ज्योतिष-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। आगन्तुक वैरागी महानुभाव के पुण्य चिन्हो को देखकर उन्हे अनुमान हो गया कि यह व्यक्ति एक दिन वडा प्रभावशाली महापुरुष वनेगा। उन्होने श्री जीवराज जी को वडे प्रेम से अपना धार्मिक प्रवचन सुनाया। प्रवचन से प्रभावित होकर वे कुछ काल तक श्रीयति जी की सेवा मे ही रहकर धर्म ध्यान

करने लगे। अंत मे उनका वैराग्य जब परिपक्व हो गया तो विक्रम सम्वत् १६५४ के लगभग श्री तेजराज जी यति के पास दीक्षित हो गये।

दीक्षित होने के बाद उनका अध्ययन आरम्भ हुआ। ज्यो-ज्यो वे शास्त्रज्ञान को गहराई मे उतरते गये, उन्हे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा। वर्तमान यति समाज की शास्त्र विरुद्ध क्रियाओ का अब उन्हे पूर्णज्ञान हो गया। उन्होने अनेक बार अपने गुरुदेव से अनेक शास्त्रीय प्रश्नोत्तर किए। किन्तु किसी भी प्रश्न का सन्तोषजनक सत्य उत्तर न मिल सका। अब उन्हे निश्चय हो गया कि वर्तमान यतिमार्ग साधना-पथ से सर्वथा विपरीत है। इसे छोड़ने मे ही जीवन की भलाई है।

क्रियोद्धार का शुभारम्भ

सत्य का दर्शन हो जाने पर मानव का मन असत्य से हट जाता है। असत्य एक अ धकार है, जिसमे मनुष्य को अपना भला-बुरा कुछ भी नही सूझता। सत्य के प्रकाश मे आत्मा को अपना हानि-लाभ, सब कुछ स्पष्ट दिखने लगता है। असली दूध का स्वाद ले लेने पर, नकली सफेद पानी को कौन दूध मानकर पियेगा। श्री जीवराज जी महाराज को आज शुद्ध सयम का ज्ञान प्राप्त हो चुका। उन्होने कई बार गुरुदेव को शुद्ध सयम की ओर बढने की प्रेरणा दी, पर यतिश्री जी मानसिक दुर्बलता के कारण अपने गच्छ की गद्दी का मोह न छोड सके। अन्त मे विक्रम सम्वत् १६६६ मे श्री जीवराज जी उनसे पृथक् हो गये। उनके साथ श्री अमीपाल जी, महीपाल जी, हीरो जी, गिरधर जी और हरजी, इन पाच मुमुक्षु जनो ने भी यतिमार्ग का परित्याग कर दिया।

पीपाड नगर के बाहर आकर छहो कल्याण-पथ के पथिको ने एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने भविष्य के कर्त्तव्य का निर्णय किया। भगवान् महावीर के संयम मार्ग पर चलने का अखण्ड निश्चय करके उन्होने, अनंत अरिहतो, तथा सिद्धो को अपनी भाव वन्दना अर्पित की। इसके वाद भूतकाल के अपने यति जीवन के दोषो की शुद्ध हृदय से आलोचना की। तदुपरान्त पूर्ण दृढता-पूर्वक सवने पूर्वाभिमुख होकर पंच - महा-व्रत रूप संयम व्रत स्वीकार कर लिया।

एक प्रश्न और उसका समाधान

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि बिना गुरु के यह दीक्षा-विधिशास्त्र विरुद्ध है। गुरु के बिना जीवन का कल्याण नही होता। यह प्रश्न तो ठीक है, पर इसके उत्तर मे इतना समझ लेना आवश्यक है की शास्त्र मे गुरु के दो प्रकार माने गय हैं। व्यवहार गुरु और निश्चय गुरु। इसी आधार पर सम्यक्त्व के भी दो प्रकार माने गये है। एक व्यवहार सम्यक्त्व और दूसरा निश्चय सम्यक्त्व। किसी भी व्यक्ति विशेष को गुरु स्वीकार करना व्यवहार गुरु धारण' कहलाता है। अपनी आत्मा के ज्ञान गुण को ही अपना गुरु मान कर चलना 'निश्चय गुरु धारण' कहलाता है। यह दूसरा निश्चयात्मक गुरु धारक ही वास्तव मे आत्म-कल्याण करता है। जव आत्मा उच्च गुणस्थानारोहण करता है और व्यवहार को पीछे छोड देता है तो वह केवल अपनी आत्मा को ही अपना देवगुरु और धर्म स्वीकार करता है। व्यवहार तो अन्त मे सवको त्यागना ही पड़ता है। किन्तु यहाँ यह कभी नही भूलना चाहिए कि व्यवहार का त्याग अवस्था विशेष का अवसर आने पर ही उचित होता है। अवसर से पूर्व उसका त्याग उचित नही होता।

नाव मे बैठा हुआ प्रत्येक व्यक्ति किनारे पर पहुचने पर ही नाव के छोडने की भावना रखता है दरिया के बीच छोडना कभी भी हित-कर नही होता। नदी के बीच मे नाव छोडना सबके वश की बात नही है। जो तैरना जानता है वही ऐसा कर सकता है। क्योकि वह अपने बाहुओ से उस जल राशि को पार कर सकता है।

हमारे प्रथम क्रियोद्धारक श्री जीवराज जी महाराज भी 'तिन्नाण तारयाण' के आदर्श थे। स्वय तिरणा और दूसरो को तारणा सहज गुण था। अत उनका स्वत. ही दीक्षित होना अनुचित नही था।

विचार प्रचार और विहार

श्री जीवराज जी महराज की विचार-क्राति ने एक बार यति समाज मे तहलका मचा दिया। जिस शुद्ध साधु-धर्म की भूमिका पर वे खडे थे, वहा यति वर्ग पहुचता हुआ भय खाता था। प्रतिष्ठा–सुख ऐश्वर्य के नाम पर कभी २ मनुष्य सत्य की भी बलि चढा देता हैं। यह बात तत्कालीन यतियो के लिए पूर्णत लागू होती थी। यति वर्ग ने उनका प्रत्येक प्रकार से विरोध किया, पर उनका विचार क्राति आन्दोलन बढता ही गया वे जहा भी गये जनता उनके पीछे हो गई। हजारो की संख्या मे लोगो ने उन्हे अपना धर्म गुरु स्वीकार कर लिया। तत्कालीन जन-समुदाय उनके तपोमय जीवन से अत्यन्त प्रभावित था। मालवा, मारवाड और मेवाड आदि अनेक प्रान्तो मे आपका विहार हुआ। सभी जगह आपको सम्मान प्राप्त हुआ। सूर्य के प्रकाश मे सभी को प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार महाराज श्री के ज्ञान सूर्य से जनता का अज्ञान अन्धकार छँट रहा था। लोगो

की आत्माएँ परम सन्तुष्ट थी। उन्हे सच्चा धर्म-उपदेशक, धर्म गुरू मिल गया था।

श्री जीवराज जी म० लोकाशाह सिद्धान्तो के प्रबल समर्थक थे। उन्होने आगम विरुद्ध मूर्ति पूजा का डटकर विरोध किया था। आगमो के विषय मे वे बारह अङ्ग-सूत्र, ग्यारह उपाङ्ग-सूत्र, चार मूल-सूत्र, चार छेद-सूत्र, और एक आवश्यक इन बत्तीस शास्त्रो को प्रामाणिक मानते थे। मुख वस्त्रिका मुख पर ही बाधी जानी चाहिए, उनका यह दृढ विश्वास था। मुख वस्त्रिका हाथ मे रखने मे प्रमाद जन्य अनेक दोष लग जाते है। वे स्वय भी सदा मुख वस्त्रिका मुख पर बाधते थे। मुखवस्त्रिका और रजोहरण को वे साधु का धर्म-चिन्ह मानते थे। साधु समाचारी के अनेक शास्त्रानुकूल नियमो का उन्होने निर्माण किया था। उनका तत्कालीन सगठन उननियमो का पूर्ण रूप मे पालन करता था।

सहयोगी और शिष्य परम्परा

हम पीछे बता आये हैं कि श्री जीवराज जी महाराज के साथ पाच महापुरुषो ने भी यति समाज से अपना सम्बन्ध विच्छेद, कर लिया था। उन्होने श्री जीवराजजी म० के प्रचार मे पूरा पूरा साथ दिया था। वे सभी सच्चे साधक थे। अनेक कष्ट आने पर भी वे अपने मार्ग मे पीछे नही हटे। इन छहो साधको मे से श्री जीवराज जी म० का शिष्य परिवार अधिक लम्बा हुआ है। श्री धन्ना जी, लालचंद जी, नाथूराम जी, नन्दलाल जी, धनजी, अमरसिंह-जी, और दूसरे लालचंद जी आदि अनेक मुमुक्षुजन आपके साधु शिष्य हुए है। वर्तमान काल की अनेक सम्प्रदाएँ श्री जीवराजजी म० को अपना मूलपुरुष मानती हैं। ऊपर उल्लिखित शिष्यो मे अनेक शिष्यो का परिवार शृङ्खला बीच मे ही समाप्त हो गई।

एक प्रभावक कवि

श्री जीवराज जी म० वक्ता होने के साथ-साथ एक प्रभावक कवि भी थे। उनकी कविताएँ साध्वाचार के अनुरूप होती थी। उनमे वैराग्य का रग पूर्ण रूप से भरा रहता था। जो भी एक बार उनकी कविता पढ अथवा सुन लेता था, वही आनन्द मग्न हो जाता था। उनकी बनाई हुई चौबीसो तीर्थङ्करो की विस्तृत चौबीस स्तुतियाँ आज भी उपलब्ध है। पाठको की जानकारी के लिए हम यहाँ उनकी आठवे तीर्थङ्कर श्री 'चन्द्रप्रभ' स्वामी जी की स्तुति का अतिम कलश लिख रहे है। जिससे उनकी कविता तथा उनके अस्तित्वकाल का स्पष्ट पता चलता है।

सम्वत् सोलह सिओत्तरा वर्षे भादवा शुदि आठम सार ए।
मंगल वारे तवन कीधो 'वालापुर' नगर मझार ए।
भल भाव आणो, भक्ति जाणी तवन भणे जे इकमना।
कर जोडी मुनि जीवराज बोले काज सरसे तेहना।।

इसी प्रकार उनकी और भी अनेक कविताएँ प्राप्त होती है। चौबीस तीर्थङ्करो के विषय मे लिखी हुई प्रत्येक स्तुति के अंत मे निर्माणकाल का पूरा उल्लेख है। कोई स्तुति १६७६, की लिखी हुई है। कोई १६७६ कोई १६७५ की लिखी हुई है। उनकी कविताएँ वडी ही मार्मिक हैं। कविताओ के भाव सीधे आत्मा को छू जाते है। जब स्वयं महाराज श्री इन कविताओ का उच्चारण करते होगे तो कितना वर्णनातीत आनन्द आता होगा। उनकी अधिक कविताएँ स्तुतिप्रधान मिलती हैं।

समाधिमरण

महापुरुषो का सारा जीवन समाधिमय होता है। वे समाधि

का सन्देश लेकर ही ससार मे आते हैं। जब वे यहां से जाते हैं तब भी जनता को समाधि का आदर्श प्रमाण देकर ही जाते हैं। उनकी शरण मे जो भी आता है वही कृत-कृत्य हो जाता है। उसका जीवन शातिमय हो जाता है। उसकी आत्मा पापो से ऊपर उठ जाती है। श्री जीवराज जी म० इन सब बातो के ज्वलत प्रमाण थे। उन्होने अपने जीवनकाल मे खूब धर्म-प्रचार किया था। जनता को जी खोलकर समाधि का सन्देश दिया था। विक्रम स० १६६६ से लेकर अब तक वे अपने कर्त्तव्यपथ पर अडिग यात्री की भाँति चले आये थे।

कहते है इन दिनो वे आगरा शहर मे विराजमान थे। उन्हें अपने शरीरान्त होने का पहिले ही ज्ञान हो गया था। उनका मरण पूर्ण समाधिपूर्वक हुआ था। अनेक पट्टावलियो मे उनके स्वर्गवास के सम्वत् प्राप्त होते हैं। सभी सम्वत् एक दूसरे से मेल नही खाते हैं। किसी-किसी प्रमाण मे तो पूरी शताब्दी का ही अतर आ जाता है। अत उनकी स्वर्गगमन-तिथि का सही उल्लेख करना कठिन है। फिर भी उनका स्वर्गवास विक्रम सम्वत् १६९८ के लगभग हुआ प्रतीत होता है। वे अपने समय के सर्वप्रथम क्रियोद्धारक थे। धर्मप्राण लोकाशाह की आध्यात्मिक परम्परा को पुन: जागृत करने का उन्होने पूरी शक्ति से सफल प्रयत्न किया था।



महान् क्रियोद्धारक श्री लवजी ऋषिजी

नवयुग-स्रष्टा श्री लवजीऋषिजी महाराज सामंत कुल मे उत्पन्न हुए थे। उनकी माता का नाम फूलाबाई था। फूलाबाई अपने पिता की एक मात्र संतान थी। इसलिए उन्होने अपनी पुत्री का विवाह सूरत के ही एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठिपुत्र के साथ बडी धूमधाम से कर दिया था। श्री लवजी के पिता का नाम अभी तक उपलब्ध नही हो पाया है। पति की मृत्यु के बाद फूलाबाई अपने माता-पिता के घर सूरत मे रहने लगी थी। लवजी यहीं पर अपने नाना श्रीवीरजी वोरा के यहाँ रहते थे वीरजी वोरा श्रीमाली वणिक् थे। राज्य एव समाज मे उनकी पूरी धाक थी। वे करोडो की सम्पत्ति के स्वामी थे उनका सारा परिवार यति-परम्परा के जैन धर्म का अनुयायी था। विक्रम सम्वत् १६४६ मे गुर्जरदेशीय लोकागच्छ के पाट पर श्री बजरग जी स्वामी विराजमान थे। ये अपने समय के बड़े ही शास्त्रज्ञ और समयज्ञ विद्वान् थे। सूरत निवासी श्रीवीर जी वोरा उनके परम भक्त थे। एक दिन फूलाबाई अपने पुत्र लवजी को साथ लेकर श्री बजरंग स्वामी के दर्शनो के लिए उपाश्रय मे गई। वहाँ जाकर उसने श्री बजरंग स्वामी से प्रार्थना की कि हे गुरुदेव ! बालक लवजी को सामायिक तथा प्रतिक्रमण सिखाने की कृपा करे। माता की प्रार्थना को सुनकर बालक लवजी बीच मे ही बोल पडा –माताजी सामायिक तथा प्रतिक्रमण तो मुझे कण्ठस्थ है। पुत्र के उत्तर से माता को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा– तूने सामायिक तथा प्रतिक्रमण कब और किससे सीखा है ? बालक ने कहा–माताजी ! जब आप नित्यप्रति सामायिक तथा प्रतिक्रमण करती थी, तभी आपके उच्चारण को सुनते सुनते मुझे सारे पाठ याद हो गये। उसने उसी समय सारे पाठ अपनी माता के सन्मुख श्री बजरग जी स्वामी को सुना दिये।

बालक लवजी की इस समय सात वर्ष की आयु थी। बचपन मे ही वह बड़ा ही चचल और बुद्धिमान् था। धार्मिक रुचि तो उसके रग-रग मे भरी हुई थी। उसकी अद्‌भुत स्मरण-शक्ति का चमत्कार देख कर बजरग स्वामी बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होने लवजी को अपने पास धार्मिक ज्ञानाभ्यास कराना आरम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनो मे अनेक शास्त्रो के अभ्यासी बन गये। शास्त्राभ्यास करते-करते उनका आत्मा वैराग्य रग मे रँग गई। उनका जन्म-जन्म का सोया हुआ आत्मभाव जागृत हो गया। जैसे-तैसे उन्होने अपनी माता तथा नाना जी से दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त करली। पूरे हरे-भरे यौवनकाल मे आपने श्री बजरग स्वामी के पास विक्रम सम्वत् १६६२ मे यति दीक्षा-धारण करली। गुरु ने अपने विचक्षण शिष्य की योग्यता का पहिले ही अनुभव कर लिया था। उन्होने दीक्षित होने के बाद श्री लवजी ऋषि को आगम के सूक्ष्म तत्त्वो का बड़ा ही विशद अध्ययन कराया। इस अध्ययन से लवजी ऋषि के अन्तर नेत्र खुल गये। अब वे साधु धर्म और यति धर्म के अन्तर को भली भाँति समझ गये। उन्हे अपना वर्तमान यति-जीवन भार-सा लगने लगा। उनकी आत्मा गुरु के मोहपाश से ऊपर उठ चुकी थी।

आत्मोद्धार का दृढ़ संकल्प

श्री लवजी ऋषि ने अनेक बार अपने गुरुदेव से प्रार्थना की कि हम और आप वर्तमान मे जिस शिथिल मार्ग पर चल रहे है, वह सही नही है। अत. आप कृपा करके स्वयं भी इस मार्ग से ऊँचे उठिए और मेरा भी उद्धार करिये। गुरुदेव ने इसके उत्तर मे कहा-पचम काल है, मेरी अवस्था वृद्ध है, अत मैं तुम्हारे निर्णय किये हुए कठोर मार्ग पर नही चल सकता। यदि तुम चलना चाहो तो चल सकते हो। मेरी तुम्हे खुली आज्ञा है।

गुरु की आज्ञा मिलने पर श्री लवजी ऋषि ने श्री थोभनऋषि जी और श्री भानु ऋषि जी नाम के दो सतो को साथ मे लेकर सूरत मे खंभात की ओर प्रस्थान कर दिया। यहाँ आकर आपने कुछ दिनो तक तो जनता मे धर्म-प्रचार किया। इससे अनेक लोगो मे आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई। खम्भात मे यतियो का बडा प्रचार था। उनके यन्त्र मन्त्र और ज्योतिष आदि के प्रभाव मे जनता आकर्षित थी। यतियो के बनाये हुए उपदेश को ही लोग सत्य मानते थे। श्री लवजी ऋषि जी ने सर्वप्रथम इस प्रदेश मे शुद्ध साधु धर्म का उपदेश दिया। उन्होने पथ-भूले श्रावको को बताया कि साधु वही होता है जो आत्म-कल्याण की साधना करता है। पच महाव्रतो का निर्दोष पालन करना प्रत्येक साधु का मुख्य कर्त्तव्य है। पालकी आदि मे बैठना साधु धर्म के विरुद्ध है। सच्चा साधु तो सदा पादविहारी होता है। इन उपदेशो ने जनता की आँखे खोल दी। हजारो की संख्या मे श्रावक श्री लवजी ऋषि जी के समर्थक हो गये।

क्रियोद्धार का शुभारम्भ

दूसरो को उपदेश देने का उसी को अधिकार होता है जो स्वयं उस उपदेश पर चलता हो। उसी की शिक्षाओ का जनता पर प्रभाव पडता है। श्री लव जी ऋषि जी म० जिस साधु धर्म का उपदेश देते थे, वे स्वयं भी पूरी सजगता के साथ उस पर चलते थे। इतनी बात अवश्य है, कि अभी तक उनका वेश अपने गुरु श्री बजरंग जी के अनुसार ही था। वे अब स्वतत्र रूप से आगम के अनुसार शुद्ध चारित्र स्वीकार करना चाहते थे। इसके लिए अपनी गृहीत परम्परा का त्याग करना आवश्यक था। इसी विचार से वे अपने दोनो सहयोगी साधुओ को लेकर एक दिन खम्भात नगर के बाहर उद्यान मे पहुँचे और पूर्व दिशा की ओर

मुख करके अनंत अरिहन्त तथा सिद्धो को विधिपूर्वक वन्दन किया। इसके बाद यति वेश के दोषो की शुद्ध हृदय से आलोचना की। शुद्ध साधुत्व के समर्थक श्री संघ की साक्षी से पच महाव्रत रूप शुद्ध संयम व्रत पुन॰ धारण कर लिया। उनके दोनो साथी मुनिराजो ने भी इसी प्रकार शुद्ध सयम पालन की प्रतिज्ञाएँ ली। यह घटना विक्रम सम्वत् १६६४ की है। स्वत॰ सयम धारण करके तीनो संत, खम्मात की प्रसिद्ध गुसाईं धर्मशाला के पास एक मकान के वरामदे मे विराजमान होगये। आपके इस क्रियोद्धार का समाचार सारे नगर मे फैल गया। जनता की भारी भीड़ उनके दर्शन तथा उपदेश श्रवण करने के लिए आने लगी। आपकी वैराग्य-भरी वाणी मे बड़ा ही रस था। धर्म-जिज्ञासु उपदेश सुन कर अपने जीवन का सुधार करने लगे। चारो ओर आपकी कीतिपताका फहराने लगी।

शुद्ध संयम स्वीकार करने के बाद आप निरन्तर मुख पर मुखवस्त्रिका बांधे रखते थे। निर्दोष आहार पानी तथा स्थान आदि ग्रहण करते थे। सर्वथा निष्परिग्रही रहते थे। ज्ञान-ध्यान आदि क्रियाओ मे अपना अधिक समय व्यतीत करते थे। इन सब उत्कृष्ट आचरणो से प्रभावित होकर सैकडो यतिपक्ष के अनुयायी उनके श्रावक बन गये। शिथिलाचारी यतियो के समाज मे खलबली मच गई। वे इस धर्मवीर योधा को परास्त करने के अनेक प्रकार के प्रयत्न सोचने लगे।

विरोधियों के षड्यंत्र

श्री लवजी ऋषिजी महाराज, भगवान् महावीर का दिव्य-सन्देश लेकर जनता के सन्मुख आये थे। उनकी आदर्श शिक्षाएँ सबके कल्याण के लिए होती थी। परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी

थे जो उनके उपदेश को जीवन मे पचा नही सके थे। अपने जीवन की कमियो के कारण वे हतप्रभ से हो गये थे। जिस यति-वर्ग की ओर हम यह संकेत कर रहे हैं वह उस समय अपने आपको श्रावक समाज का गुरु मानता था। इस अहमन्यता के कारण उसमे अनेक दोष आगये थे। श्री लवजी ऋषिजी म० जब-जब अपना आदर्श जनता के संमुख रखते, तब-तब यति लोग बोखला जाते थे। वे श्री ऋषि जी का प्रचार रोकना चाहते थे। उन्होने अनेक प्रयत्न किये पर किसी मे भी उन्हे सफलता नही मिल सकी। अन्तमे उन्होने श्री लवजी ऋषिजी के ससार पक्ष के नाना श्री वीरजी बोरा को भड़काना प्रारम्भ कर दिया। अनेक झूठी-सच्ची बाते बनाकर उन्हे अपने पक्ष मे कर लिया। वीरजी वोरा का खम्भात के नवाब के साथ बड़ा ही घनिष्ठ मैत्री संबध था नवाब सा० कई बार उनसे आर्थिक सहायता भी ले चुके थे। इसलिए वे श्री बोहरा की कोई बात नही टालते थे। उनकी झूठी चाल मे आकर बोहरा जी ने नवाब को एक पत्र मे लिख भेजा कि लवजी साधु तथा उनके साथियो को अपने राज्य मे निकाल दे अथवा ऐसा प्रबन्ध करदे जिससे उनका प्रचार रुक जाये।

नवाब साहब ने पत्र मिलते ही अपने हुक्म मे श्री लवजी ऋषि जी महाराज तथा उनके साथी सतो को नजर कैद करवा दिया। जिस जगह आपको नजर कैद करके रखा गया था, वह स्थान राजमहल के बिल्कुल समीप और सामने ही था। सतो के पास तो धर्मसकट के समय तपस्या का ही सहारा होता है। इसीलिए सब संतो ने तेले की तपस्या अङ्गीकार करली। तीसरे दिन एक बांदी ने मुनियो को देख लिया। उसने सारी बात का पता लगाकर बेगम साहिबा से कहा कि आपके राज्य मे ये निर्दोष सत क्यो कैद करवाये गये है। ये बेचारे न तो कुछ खाते हैं, न पीते है, हमेशा अपने धर्मशास्त्र पढते रहते हैं।

बेगम साहिबा ने नवाब साहब से प्रार्थना करते हुए कहा कि हजूर! इन साधुओ ने आपका क्या गुनाह किया है? इन्हे कैद क्यो करवाया गया है? नवाब साहब बोले—इन्होने मेरा तो कोई कसूर नही किया है। मैंने तो अपने एक मित्र के कहने पर इन्हे कैद करवाया है। नवाब साहब के उत्तर मे बेगम ने कहा जहाँ-पनाह! फकीरो की बददुआ लेना ठीक नही है। महरबानी करके इन्हे जल्दी से छुड़वा दीजिए। बेगम की बात नवाब साहब के मन मे जँच गई। उसने बोहरा साहब के पत्र की सारी बात श्री ऋषिजी को बताकर उन्हे आदरसहित मुक्त करवा दिया। साथ मे यह भी कहा कि आप जहाँ भी चाहे अपना उपदेश कर सकते हैं।

यति लोग श्री लवजी ऋषि जी के कैद होने की बात से बडे प्रसन्न हुए थे, पर उनके आदरसहित मुक्त होने के समाचार से उनके किए कराए पर पानी फिर गया। उनका षड्यन्त्र एकदम असफल हो गया। सत्य है, त्याग की सदा विजय होती है। झूठ हमेशा ही सत्य से हारता आया है।

आचार्य पद और श्री धर्मसिंहजी का मिलन

श्री लवजी ऋषि जी म० अदम्य उत्साह के धनी थे। अनेक कष्ट आये, पर वे अपने मार्ग से किंचिन्मात्र भी विचलित नही हुए। खम्भात के घर घर मे उनकी गुण गरिमा के गीत गाये जाने लगे। उनके अनुयायिओ की सख्या मे भी यहाँ आशातीत वृद्धि हो चुकी थी। खम्भात मे सत्य मार्ग पर चलने वाले श्रावको का एक सघ स्थापित हो चुका था। श्री सघ ने जिनशासन की व्यवस्था की दृष्टि मे आपको पूज्य पद पर स्थापित कर दिया। अब धर्म

श्रद्धालु जनता उन्हे पूज्य श्री लवजी ऋषि के नाम से सम्मान देने लगी । यहाँ से बिहार करके आप 'कालोदरे' पधारे । यहाँ आपके निष्पक्ष उपदेशो से लोगो ने खूब लाभ लिया ।

पूज्य श्री वीर शासन की अधिक से अधिक उन्नति चाहते थे । एक दिन उन्हे विचार आया कि कुछ प्रभावशाली व्यक्तियो के प्रतिबोध से प्रचार का कार्य अधिक सुगम हो सकता है । खम्भात सूरत और अहमदाबाद आदि प्रदेशो के शासक वीरजी बोरा के हाथ मे है । यदि 'वीरजी' भगवान् का सच्चा मार्ग स्वीकार करले तो प्रचार के कार्य मे बडी सहायता मिल सकती है । अपने इसी निर्णय के अनुसार पूज्य श्रीजीने कालोदरे से अहमदाबाद की ओर प्रस्थान कर दिया ।

अहमदाबाद, धर्मप्राण लोकाशाह की प्रचार भूमि रह चुकी है । वहा की जनता आरम्भ से ही धर्म तथा धर्मोपदेश की रुचि रखती आई है । पूज्य श्री के आगमन से एकबार फिर वहा धर्म प्रचार का रग जम गया । श्रीमान् लोकाशाह के सिद्धान्त, जो यति वर्ग के प्रभाव के कारण धूमिल हो गये थे, अब पुन. चमक उठे । एकसौ वर्षों का इतिहास पुन अपने आपको दोहराने लगा ।

एकदिन पूज्यश्री आहार को जारहे थे । रास्ते मे उन्हे लोका-गच्छीय यति श्री शिवजी के शिष्य श्री धर्मसिह जी महाराज मिल गये । दोनो मे आहार-विहार तथा आचार-विचार सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर हुए । आचार्य श्री लवजी ऋषिजी ने श्री धर्मसिह जी से कहा कि आप सामर्थ्यवान् होकर भी यतियो के क्रिया-काण्ड मे क्यो फँसे हुए हैं । आप तो धर्म के सिह हैं । आपको तो धर्म-गर्जना करके जनता के सोये हुए सिहत्व को जगाना चाहिए । यह कपडा जो आपने वायुकाय की रक्षा के लिये हाथ मे लिया हुआ है

इसका नाम 'मुखवस्त्रिका है। मुखपर बाधने मे ही इसकी उपयोगिता है। यह हाथवस्त्रिका नही है।

सरल हृदय संत श्री धर्मसिहजी के मन पर इन सब बातों का बडा ही गहरा प्रभाव पडा। वे स्वय बडे विद्वान् थे। उन्होने सत्य को जल्दी ही ग्रहण कर लिया। उनकी आत्म-कल्याण तथा क्रियोद्धार की भावना और भी दृढ हो गई। अपने उपाश्रय मे पहुचकर उन्होने आज सर्वप्रथम अपने मुख पर मुखवस्त्रिका बांधी।

वीरजी को प्रतिबोध

यतियो के द्वारा समय-समय पर अनेक कष्ट पहुँचाये जाने पर भी पूज्य श्री लवजी ऋषिजो म० की धर्म-यात्रा अबाध रूप से चलती रही। अहमदाबाद से विहार करके वे गुजरात, काठियावाड, मारवाड, मालवा और मेवाड आदि अनेक प्रान्तो मे पधारे। सभी जगह उनके धर्म-प्रचार की धूम मच गई। अनेक भव्य प्राणियो ने उनकी सत्प्रेरणा से सन्मार्ग स्वीकार कर लिया। इस बार वे अपनी जन्मभूमि सूरत नगर मे पधारे। यहा आकर आपने श्री वीरजो बोरा को धर्म उपदेश दिया। आपके सच्चे उपदेश से प्रभावित होकर श्री बोराजी यति परम्परा को त्यागकर आपके शिष्य हो गये। सत्य की महिमा बडी विशाल है। कल जिस व्यक्ति ने उन्हे कैद करवाया था, आज वही उनका भक्त बन गया। यह सब पूज्य श्री के त्याग का ही प्रभाव था। यह विक्रम सम्वत् १७१० का चातुर्मास आपने सघ की प्रार्थना पर सूरत मे ही व्यतीत किया। इसी चातुर्मास मे आपके पास सूरत निवासी श्री सखिया भणसाली जी की दीक्षा हुई। चातुर्मास के बाद आप खम्भात पधारे। यहा श्री धर्मसिह जी म० श्री अमोपाल जी और

श्री श्रीपाल जी म० से आपका प्रेम मिलन हुआ। कहते है कि ये तीनो मुनिराज श्री कुंवर जी की शाखा से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर चुके थे और अपना क्रियोद्धार करके आगमानुसार प्ररूपणा करने लगे थे। श्री लवजी ऋषिजी को इनके सहयोग से धर्म प्रचार मे बडी भारी सहायता मिली। उनका प्रचार बल और भी बढ गया। कालुपुरा (अहमदाबाद) के निवासी २३ वर्षीय युवक श्री सोम जी ने इन्ही दिनो मे उनके चरणो मे दीक्षा ग्रहण की थी। सोमजी ऋषि बड़े ही सेवाभावी विद्वान् संत थे। श्री लवजी ऋषिजी म० की आपने अन्तिम समय तक सेवा की थी। अपने गुरुदेव के बाद आपने ही आचार्य पद को सुशोभित किया था। उत्तरार्ध लोकागच्छीय पजाव शाखा के मूल मे आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री सोमजी जैसे प्रतिभा सम्पन्न शिष्य को पाकर पूज्य श्री का धार्मिक उत्साह चतुर्मुखी हो गया। अहमदाबाद के इस कोने से लेकर उस कोने तक धर्म दुन्दुभि बजने लगी। इधर पूज्य श्री लवजी ऋषिजी म० का प्रचार और उधर धर्ममूर्ति श्री धर्मसिहजी म० का धर्म-उपदेश इन दोनो क्रांतिस्रष्टाओ के सहयोग से आगमानुकूल सिद्धान्तो का अविरल गति से प्रचार होने लगा।

महान् कष्टों में भी शांत

महापुरुषो के जीवन मे कष्ट सहिष्णुता का अपार भण्डार होता है। वे मरणान्तक उपसर्ग आने पर भी अपने मार्ग मे विचलित नही होते। समर्थ क्रियोद्धारक श्री लवजी ऋषिजी म० की सहनशीलता और शान्ति अनुपम थी। जीवन मे उन पर अनेक कष्ट आये पर सभी कष्टो को शातिपूर्वक झेलते रहे। प्रतिशोध अथवा अशांति का भाव कभी मन मे नही आने दिया।

एक बार अहमदाबाद में यतियों ने उनके शिष्य श्री भानुऋषि जी म० को कुटिलतापूर्वक अपने मन्दिर के पीछे ले जाकर कत्ल कर दिया और उनके शव को वहीं गड्ढा खोदकर दबा दिया। सायंकाल तक भानुऋषि जी के उपाश्रय में न पहुँचने पर जनता में खलबली मच गई। बहुत खोज करने पर भी कई दिन तक कोई पता न चल सका। आखिर पाप कब तक छिपता। एक दिन एक सोनी के द्वारा सारा वृत्तान्त जनता में खुल गया। धर्मश्रद्धालु लोगों में प्रतिशोध की आग भड़क उठी। पर शांति सेना के अधिनायक श्री लवजी ऋषिजी महाराज ने 'कर्मगति' का परिचय देते हुए अपने शांति सन्देश द्वारा सबको शांत कर दिया। मुनिनायक की इस सहनशीलता से उनकी प्रतिष्ठा और बढ़ गई।

यति लोग इतना ही अनर्थ करके शांत नहीं हुए। कभी-कभी धर्मात्मा पुरुषों के शांतभाव को देखकर विरोधी गर्व के उन्माद में आ जाते हैं। यही हाल अहमदाबाद के यति समुदाय का हुआ। उन्होंने सत्यप्रिय संत श्रद्धालुओं का सामाजिक बहिष्कार करना आरम्भ कर दिया। कूओं पर से उनके मटके हटा दिये गये। नाइयों और धोबियों को उनका काम करने में रोक दिया गया। शहर के २५—३० श्रावकों ने दिल्ली जाकर बादशाह तक अपनी कष्ट कहानी पहुँचानी चाही, पर वहां पहिले से ही यतियों ने ऐसा प्रबंध करा लिया था कि कोई बादशाह से मिलने भी न पाया। फिर भी वे भक्त श्रावक अपना प्रयत्न करते ही रहे। एक दिन दिल्ली राज्य के एक प्रसिद्ध 'काजी साहब' के इकलौते लड़के को विषैले सांप ने काट खाया। अनेक प्रयत्न करने पर भी लड़का सचेत न हो सका। सब लोग उसे मृत समझकर कब्रिस्तान में ले आये।

अहमदाबाद से आये श्रावकों में एक श्रावकजी बड़े ही दृढ़

विश्वासी थे। उन्होने कब्रिस्तान मे पहुँचकर लडके को पचपरमेष्ठी-महामंत्र सुनाया। महामंत्र के प्रभाव से सर्प का विप उतर गया और लड़का स्वस्थ होकर उठ बैठा। अपने लडके को जीवित और स्वस्थ देखकर काजीजी की खुशी का पार न रहा। वे उसी समय श्रावकजी के चरणो मे गिर पडे। काजीजी ने बडे ही नम्रशब्दो में कहा आपने मुझ पर जो अहसान किया है, इसे मै जिन्दगी भर भी नही भूल सकता।

धर्मात्मा श्रावकजी ने अहमदाबाद मे भानुऋषिजी के कत्ल से लेकर अब तक का सारा वृत्तान्त काजीजी को सुनाते हुए वहा के यतियो के अत्याचारो का कच्चा चिट्ठा उनके सामने रख दिया। अब क्या था काजीसा० ने सारा वृत्तान्त तुरंत ही बादशाह तक पहुँचा दिया और शाहीफर्मान लेकर स्वय ही अहमदाबाद पहुँचे। वहा जाकर सर्व प्रथम राज्य प्रबध मे मन्दिर का वह स्थान खुदवाया गया, जहाँ भानुऋषिजी के शव को दबाया गया था। खुदाई कराने पर शव का अस्थिपिजर ज्यो का त्यो मिल गया। अबतो काजीजी के क्रोध का पार न रहा। उन्होने उसी घडी उस मन्दिर को ध्वस्त करने का फर्मान जारी कर दिया। किन्तु श्रावको ने कुछ आगा पिछा सोचकर अनुनय विनय के साथ काजीसा० के विचार को बदलवा दिया। काजीसा० श्रावको की इस शातिप्रियता से अत्यत प्रभावित हुए। उनका जैन धर्म के प्रति अटूट विश्वास होगया। कहते है आगे चलकर ये काजीसाहब भगवान् पार्श्वनाथ जी के दृढ श्रद्धालु हो गये थे। उन्होने अपने जीवन मे भगवान् पार्श्वनाथ जी की अनेक स्तुतिया भी लिखी थी।

महापुरुष का महा प्रयाण

महापुरुषो का जन्म जगत् के कल्याण के लिए होता है। वे

जो कुछ भी सोचते और करते हैं, उनमें सब के कल्याण की भावना निहित रहती है। उनका जन्म भी महान् होता है और मृत्यु भी महान् होती है। सच तो यह है कि महापुरुषो की आत्म-शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि मृत्यु भी सीधी आती हुई उनके पास घबराती है। वह उनके समीप आने के लिए किसी बहाने की खोज करने लगती है। महापुरुष श्री लवजी ऋषिजी म० का अमर जीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वह इन दिनो रहानपुर के उपनगर इन्दलपुर मे विराजमान थे। यहां यतियो का बडा जोर था। वे पूज्य श्री लवजी ऋषिजी म० से सदा चिढते रहते थे। उनकी यह दृढ धारणा बन गई थी कि जब तक 'श्री लवजो' जीवित हैं, उनका प्रचार पूरे वेग के साथ चलता ही रहेगा। किसी भी प्रकार से यदि श्री लवजी समाप्त हो जाय; तो यति सम्प्रदाय की उन्नति हो सकती है। अपने इस पैशाचिक निश्चय की पूर्ति के लिए उन्होने दो विष मिश्रित मोदक बनाए। अपने बेले की तपस्या के पारणे के लिए जब महामुनिराज श्री लवजो ऋषिजी गोचरी के लिए उठे तो एक रगारिन बाई के द्वारा दोनो लड्डू उन्हे आहार मे दे दिए गये। इसके बाद क्या हुआ इसे लिखने की आवश्यकता नही है। मृत्यु को एक बहाना मिल गया। वह आई और अपना काम करके चली गई। हमारे धर्म नायक ने संथारा करके पूर्ण सम भावो के साथ समाधि मरण प्राप्त कर लिया। उनका यह धर्म बलिदान आनेवाली पीढियों को सदा धर्म सहिष्णुता का सन्देश देता रहेगा।

श्री लवजी ऋषिजो के स्वर्गवास से जो क्षति हुई उसका पूरा होना तो सभव नही था, फिर भी उनके योग्य शिष्य श्री सोमजी ऋषि ने अपने गुरुदेव के उत्तरदायित्व को पूरी तरह से संभाल लिया। धर्म गगा का प्रवाह चलता ही रहा।

श्री लवजी ऋषिकी परम्परा

पूज्य श्री लवजी ऋषिजी म० अपने युग के एक महा प्रभावक संत थे। उनका समस्त जीवन ज्ञान मय था। तपोव्रत के आराधन मे तो वे अद्वितीय थे। सदा ही बेले बेले की तपस्या करना उनका स्वाभाविक धर्म बन गया था। गर्मी मे धूप की आतापना लेना और सरदो मे शीत तपस्या करना उनके जीवन का विशेष अंग था। उनके अभूतपूर्व त्यागव्रत के कारण ही उनके शिष्यो में भी ये गुण विशेष रूप से प्रतिष्ठा पागये। पूज्य श्री सोमजी ऋषि के बाद उनकी परम्परा मे अनेक प्रभावक सत हुए हैं। इन सभी सतो ने यथा समय जिन शासन की उन्नति मे अपना पूर्ण योगदान दिया है। श्री सोमजी ऋषि के अनेक शिष्यो मे श्री कहान ऋषिजी तथा श्री हरिदासजी म० के नाम मुख्य रूप से आते हैं। इन दोनो महापुरुषो से ही आगे चल कर क्रमश: ऋषि सम्प्रदाय और पजाव सम्प्रदाय का निर्माण हुआ है।

श्री हरिदास जी महाराज

मुनि पुङ्गव पूज्य श्री हरिदास जी महाराज पहिले लोकागच्छीय यति थे। उनका आगम ज्ञान बडा ही विशाल था। आपके मन मे सम्यग् ज्ञान की बडी उत्कट जिज्ञासा थी। उनका शास्त्राध्ययन निरन्तर चलता रहता था। एकवार उन्होने आगम मे सच्चे साधुओ का स्वरूप पढा। जव उन्होने उसकी तुलना तत्कालीन यति समाज के साथ की तो यतियो के शास्त्र विरुद्ध शिथिलाचार से उन्हे घृणा हो गई। वे सोचने लगे कि उस ज्ञान से क्या लाभ है जो आचरण मे न आ सके। मैंने गृहस्थ का त्याग आत्म कल्याण के लिए किया है। शुद्ध आत्म-साधना के बिना यह वाह्य क्रिया काण्ड किसी काम का नही है।

यही सब सोचकर उन्होने यति परम्परा का त्याग कर दिया, और खोज करते करते एकबार अहमदाबाद आ गये। यहा पूज्य श्री धर्मसिंहजी महाराज से उनकी भेंट हुई। उनका सत्संग लाभ लेकर वे उसी नगर मे विराजमान पूज्य श्री सोमजी ऋषि की सेवा मे आये। यहां उन्होने कई दिन तक सच्चा धर्म लाभ लिया पूज्य श्री सोमजी के सदुपदेशों मे उनकी आत्मा संयम मार्ग में स्थिर हो गई। और वे उन्ही के शिष्य बन गये। कुछ पट्टावलियो मे उल्लेख है कि वे पूज्य श्री सोमजी की आज्ञा मे विचरने लगे। कुछ भी हो, श्री हरिदास जी महाराज के जीवन को शुद्ध सयम का मोड पूज्य श्री के सत्सग ने ही दिया।

अनेक भाषाओं के विद्वान्

भाषा की वह शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरो पर प्रकट करता है। धर्मप्रचार करने वालो के लिए अधिक भाषाओ का ज्ञान होना उनकी सफलता का कारण होता है। आज हम जितनी भाषाएँ देख रहे हैं। इन सबकी दूर समीप जननी प्राकृत भाषा ही है। प्राकृत भाषा आद्य भाषा है। इसीलिए तो सभी तीर्थङ्कर इसी भाषा मे अपना धर्म उपदेश देते हैं। प्राचीन काल मे यह भाषा लोकभाषा के रूप मे प्रचलित थी। आज इसके जानकार न होने के कारण हम अपने शास्त्रीय ज्ञान से वचित होते जा रहे है।

श्री हरिदास जी महाराज अपने समय के प्रसिद्ध भाषाविद् थे। उन्होने अपने यति काल में ही संस्कृत, प्राकृत, उर्दू और फारसी आदि भाषाओ का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आपकी भाषण शैली से प्रभावित होकर ही पूज्य श्री जी ने आपको पजाब मे जाकर धर्मप्रचार करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

पंजाब सदा से धर्मवीरो और कर्मवीरो की भूमि रही है। क्रान्तियो का तो अग्रस्रष्टा रहता आया है। ओसा नगरी से आये हुए ओसवाल पजाब मे भावड़े के नाम से प्रसिद्ध है। यह भावडा जाति (ओसवाल) अपने कर्त्तव्य क्षेत्र मे बडी ही शौर्य-पूर्ण रही है। पजाब मे आकर तो इस जाति की भावनाएँ बहुत उन्नत हो गई। इनकी इस भाव उन्नति के कारण ही लोग इन्हें भावड़ा कहने लगे।

पंजाब को धर्म-नेता मिल गया

उन दिनो पंजाब को एक ऐसे धर्म-नेता की आवश्यकता थी जो स्वयं शुद्ध साध्वाचार का पालन करता हो और उन्हे सच्चे वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सके। श्री हरिदास जी महाराज के पजाब पहुँचने पर उनकी यह आवश्यकता पूर्ण हो गई। श्री हरि-दास जी महाराज शुद्ध संयमी होने के साथ साथ, आगम साहित्य के वडे भारी विद्वान् थे। पंजाब मे आते ही उनके उपदेशो की धूम मच गई। हजारो की संख्या मे लोग उनके धर्म उपदेश मे आने लगे। अपने उपदेशो मे मुख्य रूप से वे सम्यक्त्व की स्थापना तथा मिथ्यात्व का विरोध करते थे। उन्होने सत्य ही कहा था कि—आत्मा ही अपने गुणो को चमका कर महात्मा बनता है। जब महात्मा तपस्या द्वारा अपने समस्त कर्मो को क्षय कर देता है तो वह परमात्मा बन जाता है। आत्म उपासना से ही परमात्म-पद की प्राप्ति होती है। चेतन को तो चेतन की ही उपासना करनी चाहिए। जड की उपासना करने से चेतन का अपमान होता है। जड पूजा मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से कभी कल्याण नही हो सकता। सम्यक्त्व ही कल्याण की सीढी है। हमारे देव अरिहंत है, गुरु निर्ग्रन्थ है, तथा धर्म अहिंसा है। इन तीन महान् तत्त्वो का

विश्वास ही सम्यक्त्व कहलाता है। हम सबको सम्यक्त्व रत्न प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

शिष्यों को सद्गुरु मिल गया

सत्य को सभी ग्रहण करना चाहते है। जब सत्य का दर्शन हो जाता है तो झूठ से सबको घृणा हो जाती है। श्री हरिदास जी महाराज के आगमानुसारी प्रचार से जनता की आखें खुल गई। उन्हे अपने हित, अहित का बोध होने लगा। अनेक भव्य प्राणियो ने उन्हे सद्गुरु के रूप मे स्वीकार कर लिया। कितने ही कल्याण के इच्छुक तो उनकी चरण शरण मे साधु बन गये। धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो उनका प्रचार उन्नति करता रहा, त्यो-त्यो उनके शिष्यों तथा अनुयायियो की संख्या मे वृद्धि होने लगी। एक समय ऐसा आया जब पंजाब मे उनके अनुयायियो का एक सुदृढ सगठन बन गया। पजाब श्री सघ ने श्री हरिदास जी महाराज को सामूहिक रूप से बडे भारी उत्साह के साथ पूज्य पद पर स्थापित कर दिया। इसके बाद आपका श्रमणसघ एक विशिष्ट सम्प्रदाय का रूप ले गया। पूज्य श्री लवजी ऋषि के तीसरे पाट पर आपको आचार्य स्वीकार किया गया। पजाब के छोटे बडे अनेक क्षेत्रो मे क्रमश आपके शिष्य परिवार तथा सम्प्रदाय का विस्तार बढने लगा। यह सब आपके त्याग, तपोबल तथा विशाल शास्त्रीय ज्ञान का ही प्रभाव था। आपका जीवन समस्त मानव समाज के लिए आदर्श था।

ऐतिहासिक सामग्री तथा शिष्य परम्परा

पूज्य श्री हरिदास जी महाराज के विषय मे अभी तक कोई क्रमिक इतिहास सामग्री उपलब्ध नही हो पायी है। बहुत खोज

करने पर भी उनके जन्मस्थान, माता, पिता, जन्म सम्वत् आदि की कोई प्रामाणिक सामग्री नही मिली है कुछ जन श्रुतियो तथा पूर्वापर के मुनिराजो के जीवन-वृत्तो के आधार पर ही जनता में उनका परिचय है। ऐतिहासिक विद्वानो को इस ओर प्रयत्न करना चाहिए।

पूज्य श्री हरिदासजी महाराज की शिष्य-परम्परा काफी विस्तृत थी। अनेक पट्टावलियो मे उनके शिष्यो के नाम मिलते है। 'आपके बाद पंजाब के आचार्य पद पर श्री वृन्दावनलाल जी महाराज, श्री भवानीदासजी महाराज तथा श्री मलूकचन्द्र जी महाराज क्रमश' विराजमान हुए। पूज्य श्री मलूकचन्द्र जी म० अपने समय के बडे ही प्रसिद्ध महापुरुष थे। विक्रम सम्वत् १८१० के वैशाख शुक्ला पञ्चमी मगलवार के दिन पचेवरग्राम मे जो चार सम्प्रदायो का सम्मेलन हुआ था उसमे आप और आपकी सम्प्रदाय के श्री मनसारामजी महाराज तथा महासति श्री पूलाजी अपने शिष्य परिवार के साथ सम्मिलित हुए थे। इनके बाद परम प्रभावक महापुरुष पूज्य श्री महासिंह जी हुए। इनका स्वर्गवास वि सं. १८६१ में माना जाता है इसके बाद कुशलसिंह जी, छज्जुमल जी और रामलाल जी महाराज हुए श्री लवजी ऋषि के दशवे पाट पर पजाब मे प्रसिद्ध आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज हुए।

पजाब के प्रसिद्ध नगर अमृतसर मे आपका जन्म हुआ था। आप तातेड गोत्रीय ओसवाल थे। वि म १८९८ वैशाख कृ० द्वितीया को आपने दीक्षा व्रत स्वीकार किया था। आप पजाब के बडे ही प्रभावशाली आचार्य हुए है। पजाब सम्प्रदाय आपको आद्य आचार्य के रूप मे स्वीकार करता है। वि स १९३८ अषाढ शु. २ के दिन आपका अमृतसर मे स्वर्गवास हुआ। आप श्री रामलालजी के शिष्य थे। श्री अमरसिंहजी म० के अनेक शिष्य हुए है उनमे

श्री रामवख्श का नाम मुख्य रूप से आता है। आपका अलवर के लोढा गोत्रीय ओसवाल थे। पच्चीस वर्ष की आयु मे आपने जयपुर मे दीक्षा ग्रहण की थी। मालेर कोटला पजाव मे आपको वि. सं १६३६ ज्येष्ठ कृ ३ के दिन आचार्य पद दिया गया था। इस प्रकार आप केवल २१ दिन रहे। आपका शीघ्र ही स्वर्गवास हो गया इसके वाद पंजाव की परम्परा मे अनेक विद्वान् साधु सत हुए। विशेषतया पंजाब मे चार परिवार अधिक प्रसिद्ध है। (१) पूज्य सोहनलाल जी का, (२) पूज्य मोतीरामजी का, (३) श्री मयारामजी (४) श्री लालचन्द जी का।

पूज्य श्रीरामवक्ष के वाद पूज्य मोतीरामजी और और श्री सोहनलालजी म॰ आचार्य पद पर आये।

पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज

स्यालकोट (पश्चिमी पंजाव) के सम्वडियाल नामक नगर मे आपका जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम श्री मथुरादास और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। विक्रम सं १६३३ मे आपने शिवदयाल जी, दूल्होराय जी और गणपतराय जी इन तीनों साथियो के साथ श्री अमरसिंह महाराज के चरणों मे दीक्षा ग्रहण की थी। श्री मोहनलाल जी और शिवदयाल जी श्री धर्मचन्द्रजी के शिष्य बनाये गये। श्री दूल्हाराय और श्री गणपत राय जो श्री मोतीरामजी के शिष्य हुए। आप सबका दीक्षा उत्सव वडी धूम धाम के साथ हुआ था। गुरुदेव श्री धर्मचन्द्र जी के स्वर्गवास के वाद श्री सोहन लालजी पूज्य श्री अमरसिंह जी की सेवा मे रहने लगे थे। थोड़े ही दिनो मे आपने आगमो का विशद ज्ञान प्राप्त कर लिया। धीरे धीरे व्याख्यान कला मे भी आपकी प्रगति होने लगी। जब से आप प्रचार के क्षेत्र मे उतरे चारो ओर आपके

प्रचारों की धूम मच गई। आप शास्त्रार्थ कला मे भी बडे कुशल थे। श्री आत्माराम सवेगी जैसी मूर्ति पूजक विद्वान् साधु आपके नाममात्र से ही भय खाते थे। आपको जैन ज्योतिष विद्या मे भी विशेष प्रगति थी। आपने एक जैन पचाङ्ग का भी निर्माण किया था। वि, सं. १६५८ मार्ग शीर्ष शु० ५ बृहस्पतिवार के दिन पटियाला (पजाब) मे आपको आचार्य पद दिया गया। इस समय यहा गणावच्छेदक श्री गणपतरामजी तथा श्री लालचंद जी महाराज आदि २६ साधु एकत्रित हुए थे। आपके अनेक शिष्य हुए हैं। उसमे गैंडेराय जी म तथा श्री काश नाथ जी म० का नाम प्रमुख है। आगैंडेराय जी के श्री गणिउदयचद जी महाराज पण्डित रत्न श्री कस्तूरचंद जी म तथा तपस्वी श्री निहाल चद महाराज आदि शिष्य हुए। आपका स्वर्गवास वि सं० १६६२ आपाढ शु० ६ के दिन अमृतसर मे हुआ था।

गणिवर्य श्री उदयचंद्रजी महाराज

गणिवर्य श्रीउदयचद जी महाराज ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। आपके दीक्षागुरु श्रीगैंडेराय जी महाराज थे। श्री गणिजी म० बडे ही कुशाग्र बुद्धि थे। शाति के तो आप देवता थे। आप बडे ही प्रगाढ पाण्डित्य के धनी थे। आपका आगम अध्ययन बडा ही विशाल था। तत्कालीन नाभा नरेश श्रीहीरासिह जी के दरबार मे आपने अनेक शास्त्रीय युक्तियो द्वारा श्रीबल्लभ विजयजा सवेगी को परस्त किया था। यह शास्त्रार्थ वि० सं० १६६१ ज्येष्ठ कृ० ४ को नाभा नरेश के ज्ञान गोष्ठी भवन में आरम्भ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में श्रीहीरासिह जो के अतिरिक्त भाई कहानसिहजी, प० श्री धर जी, और बाबा परमानन्द जी आदि विद्वान् निर्णायक के रूप में उपस्थित रहते थे। शास्त्रार्थ का मुख्य विषय 'मुख-वस्त्रिका था। श्रीवल्लभ विजयजो का मत था कि मखवस्त्रिका

हाथ मे रखनी चाहिए और श्री गणिजी का मत था कि इसे मुख पर बाधना ही शास्त्रानुकूल है। इस शास्त्रार्थ मे श्री गणिजी महाराज विजयी हुए थे। उनके तर्क बड़े ही अकाट्य थे। उन्होने मुखवस्त्रिका मुख पर ही बाधनी चाहिए इस विषय मे जैन तथा जैनेतर अनेक ग्रंथो के प्रमाणो से अपने मत का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त आपने अपने जीवन मे अनेक धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के कार्य किये। अजमेर साधु सम्मेलन मे आप शातिरक्षक के प्रमुख पद पर नियुक्त थे। ८५ वर्ष की अवस्था मे आप का दिल्ली मे स्वर्गवास हो गया। श्री रघुवर दयाल जी म० आपके प्रमुख शिष्य है।

पूज्य श्री काशीराम जी महाराज

आपका जन्म पसरूर (स्यालकोट) पजाव मे वि० सं० १९६० मे हुआ था। आप पूज्य श्री सोहन लाल जी महाराज के शिष्य थे। आप पजाव के बड़े ही तेजस्वी पुरुष थे। श्रद्धालु भक्त आपको पजाब केशरी के नाम से पुकारते थे। आप स्वभाव के जितने कोमल थे क्रिया मे उतने ही कठोर थे। आगम शास्त्र के विद्वान् होने के साथ साथ आप अनेक भाषाओ के विद्वान् भी थे। वैराग्य और त्याग की आप साक्षात् मूर्ति थे। पजाव के अतिरिक्त यू० पी०, राजस्थान गुजरात और दक्षिण आदि प्रदेशो में भी आपने पाद विहार किया था। आपको होशियार पुर मे आचार्य पद दिया गया था। आपके प्रभावशाली उपदेशो से प्रभावित हो कर अनेक भव्य जीवो ने आत्म कल्याण का पथ अपनाया। अनुशासन व्यवस्था का आपको विशेष अनुभव था। आपका स्वर्गवास अम्बाला में हुआ था। आपके अनेक शिष्य हुए है, जिनमे पण्डित श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज का नाम विशेष महत्व पूर्ण है। पूज्य

श्री काशीराम जी म० के स्वर्गवास बाद उनका उत्तराधिकार आपको ही प्राप्त हुआ था।

महान् आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

आप क्षत्रियकुलोत्पन्न चोपडा गोत्रीय थे। आपके पिताजी श्री मनसा रामजी और माताजी श्री परमेश्वरी देवीजी थीं। विक्रम सम्वत् १६५१ मे आपको श्री गणपत रायजी म० ने दीक्षा दी और श्री शालिग्रामजी म० का शिष्य बना दिया। आपने पजाब के प्रमुख आचार्य श्री मोतीरामजी म० से शास्त्राभ्यास किया था। आप आगम शास्त्रो के उद्‌भट विद्वान् थे। उर्दू, फारसी, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओ पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपका पाण्डित्य पूर्ण व्यापक था। आपकी विद्वत्ता तथा संयम-शीलता देख कर संघ ने आपको उपाध्याय पद पर नियुक्त कर दिया। वि० सं० १६६३ में आपको साहित्यरत्न की पदवी से विभूषित किया गया। आपने अनेक जैनागमो पर स्वतन्त्र तथा विस्तृत हिन्दी टीकाएँ भी लिखी हैं। अनुमानतः ६० ग्र थ आपने अपने जीवनकाल में लिखे थे। आप काफी वर्षो तक लुधियाना मे स्थिरवास मे रहे और अंत मे आपका स्वर्गवास भी यही पर हुआ। इन दिनो आप भारतवर्षीय श्रमण संघ के प्रथम आचार्य थे।

पजाब की इन विभूतियो के अतिरिक्त स्थविर स्वामी श्री नेकचन्दजी म०, स्वामी श्री भागमलजी म० श्री रघुवरदयालजी म० पं० श्री हेमचन्द्रजी म० पंजाब केशरी श्री प्रेमचन्द जी म० तत्त्ववेत्ता श्री फूलचन्दजी म० श्रमण' श्री पद्‌मचन्द्रजी म० (भण्डारी) श्री ज्ञानमुनिजी म०, श्री मनोहर मुनि जी म०, वक्ता श्री सुमन-मुनिजो म० आदि मुनिराजो के नाम भी विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। संत मुनिराजो के समान ही पंजाब का श्रमणी वर्ग भी

बड़ी विशाल संख्या मे है। पंजाब की भूमि ने श्रमण-समाज को अनेक त्यागी, तपस्वी और विद्वान् मुनिराज दिए है।

व्याख्यान-वाचस्पति स्व० श्री मदन लालजी महाराज अपने समय के एक प्रभावशाली तेजस्वी महापुरुष हुए हैं। आप कुछ समय तक श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमणसंघ के प्रधान मंत्री भी रहे थे। सयम-साधना मे आप सदा तत्पर रहते थे। स्वर्गीय श्री मदन लालजी म० के संतो मे स्थविर श्री रामजीलाल जी म० विद्वान् श्री सुदर्शन मुनिजी म० तथा श्री रामप्रसाद जी म० श्री रामकृष्ण जी म० आजकल विशेष प्रसिद्ध है।

क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज

सौराष्ट्र मे जामनगर अपनी ऐतिहासिकता के कारण अत्यत प्रसिद्ध है। इसी नगर मे जिनदास नाम के एक श्रीमाली श्रावक रहते थे। उनकी पत्नी का नाम शिवादेवी था। महान् क्रान्तिकारी श्री धर्मसिहजी का जन्म इन्ही पुण्यशाली दम्पति के यहां हुआ था। श्री जिनदास जी एक धार्मिक विचारो के व्यक्ति थे। अपनी परम्परा के अनुसार वे नित्य प्रति सामायिक आदि धर्म-क्रियाएं करते रहते थे। पिता के धार्मिक संस्कारो के कारण ही बालक धर्मसिह की धर्मरुचि जागृत हुई थी। पन्द्रह वर्ष की छोटी अवस्था मे ही इस बालक के हृदय मे तत्कालीन लोकागच्छ के अधिपति श्री रत्नसिह जी के शिष्य श्री देवजी यति की वाणी सुनकर वैराग्य का रग उभर आया। उसे संसार से एकदम विरक्ति हो गई। जब माता-पिता के सन्मुख दीक्षा लेने की आज्ञा का प्रश्न आया तो, वे बड़े भारी आश्चर्य मे पड़ गये। उन्होने बालक धर्मसिह को शक्तिभर समझाया, पर उसके मन पर उनकी कोई भी बात न बैठ सकी। अपने पुत्र के अकाट्य तर्कों को सुनकर श्री जिनदास जी

इतने प्रभावित हुए कि वे स्वयं भी अपने पुत्र के साथ श्री शिव जी यति के पास दीक्षित हो गये।

दीक्षा लेने के वाद स्वल्पकाल मे ही श्री धर्मसिंह मुनि आगम साहित्य, व्याकरण, तर्क और दर्शन के विशिष्ट विद्वान् हो गये। उनकी धारणाशक्ति वडी विशाल थी। महान् पाण्डित्य के साथ-साथ उनमे एक यह भी विशेषता थी कि वे अपने दोनो हाथो और दोनो पैरो से एक साथ कलमे पकड कर लिख सकते थे। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेने के वाद उनके हृदय मे उज्ज्वल चारित्र की भावना उत्पन्न होने लगी। तत्कालीन यति-समाज के वाह्य क्रिया-काण्ड से उनका मन उदासीन रहने लगा।

गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना

एक वार असली दूध पी लेने के वाद नकली दूध को कोई भी पीना नही चाहता। श्री धर्मसिंह मुनि को जव सत्य दर्शन हो गया तो उन्हे भी यति-परम्परा से घृणा हो गई। धर्म और साधुता के नाम पर शिथिलाचार उन्हे विलकुल ही अच्छा नही लगता था। एक दिन उन्होने अपने गुरुदेव से प्रार्थना करते हुए कहा कि इस समय हमने जो आचरण स्वीकार कर रखे हैं वे शास्त्र-विरुद्ध हैं। संयम की शिथिलता जीवन का नाश करती है। अत॰ हमे उसे सुधारना चाहिए। हमारी क्रिया का उद्धार हुए विना जीवन का उद्धार संभव नही है।

शिष्य की यथार्थ वातो को श्री शिवजी ने काल का प्रभाव वताकर टाल दिया। उन्होने कहा—शुद्ध सयम का पालन करना आज के युग मे असंभव है और फिर मेरी अवस्था भी वडी हो चुकी है। तुम जिस सिद्धान्त पर चलना चाहते हो उसका पालन

मुझसे तो नही हो सकता। यदि तुम स्वयं अपनी क्रिया का उद्धार करना चाहो तो कर सकते हो, पर मै तुम्हे इस महान् कार्य के लिए तभी आज्ञा दे सकता हूँ, जब कि तुम मेरी परीक्षा मे सफल हो जाओगे। बोलो ! तुम्हे परीक्षा देना स्वीकार है ?

श्री धर्मसिंह मुनि के परीक्षा देना स्वीकार कर लेने पर श्री शिवजी ने कहा–कि तुम आज रातभर यहाँ के प्रसिद्ध पीर दरियाखान की दरगाह मे जाकर रहो। यदि तुम प्रात काल जीवित वापिस आगये तो तुम्हे स्वतन्त्र रूप से क्रियोद्धार करके धर्म-प्रचार करने की आज्ञा मिल जायेगी। याद रखो इस दरियाखान दरगाह मे रात को जो भी रहता है, प्रात काल उसका शव ही मिलता है। एक प्रकार से यह मृत्यु के साथ टक्कर है।

दरियाखान पीर का अहमदाबाद और उसके पास के इलाके मे पूरा आतंक छाया हुआ था। कई आदमियो की वहा मृत्यु हो चुकी थी। उस पीर से नगर के सब लोग डरते थे। रात मे उसके स्थान पर रहना तो दूर रहा, वहाँ कोई जाता भी नही था। पर आत्मविश्वासी श्री धर्मसिंह मुनि निर्भयतापूर्वक दरगाह में चले गये और पद्मासन लगाकर ध्यानारूढ हो गये। रात्रि में पीर आया और मुनि के तेजोमय रूप को देखकर चकित रह गया। उसने मुनिजी के साथ अनेक प्रश्नोत्तर किये। अत मे वह उनके तप, त्याग के सन्मुख नतमस्तक हो गया। रात्रिभर वह उनकी सेवा मे भक्तिपूर्वक बैठा रहा। मुनिजी ने उसे अनेक शास्त्रो की गाथाओ मे दयाधर्म का उपदेश दिया। उस पर उपदेश का इतना प्रभाव पडा कि सदा के लिए उसने किसी जीव को न सताने–न मारने का नियम ले लिया। वह पूर्णरूप से उनका भक्त बन गया।

प्रात-काल सूर्य उदय होते ही श्री धर्मसिंह मुनि सकुशल

अपने गुरुदेव के समीप लौट आये। श्री शिवजी यति उन्हे जीवित आया देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे। अब उन्हे विश्वास हो गया कि उनका यह शिष्य कोई साधारण व्यक्ति नही है। यह तो कोई महापुरुष है। यह अवश्य ही जनता का उद्धार करेगा। यही सब निर्णय करके उन्होने श्री धर्मसिह जी को क्रियोद्धार की आज्ञा प्रदान कर दी।

क्रियोद्धार और साहित्य-निर्माण

गुरुदेव की आज्ञा मिलने पर श्री धर्मसिह मुनिजी उनसे अलग होकर सर्वप्रथम दरियाखान पीर की दरगाह मे पधारे। यही पर उन्होने अपना सबसे पहला स्वतन्त्र तथा शास्त्रानुकूल उपदेश देना प्रारम्भ किया। इसी कारण आगे चलकर श्री धर्मसिह जी मुनि की सम्प्रदाय का नाम 'दरियापुरी' प्रसिद्ध हो गया। कुछ इतिहासकार इस घटना को विक्रम सम्वत् १६८५ को बताते हैं और कुछ का मत है कि यह घटना १६६२ की है। किन्तु श्री लवजी ऋषि के द्वारा श्री धर्मसिह मुनि को क्रियोद्धार की सत्प्रेरणा दिया जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि यह घटना १६६४ के बाद की होनी चाहिए।

श्री धर्मसिह जी महाराज की स्मरण-शक्ति बडी ही विलक्षण थी। इस विषय मे एक किवदन्ती भी प्रचलित है कि एक बार एक ब्राह्मण एक हजार श्लोको का एक ग्रंथ लेकर उनकी सेवा मे आया। मुनिजी से वह उस ग्रंथ का अर्थ समझना चाहता था। तत्वज्ञ मुनि श्री ने वह ग्रन्थ एक दिन के लिए ले लिया और दूसरे दिन उसके सब श्लोको का अर्थ ब्राह्मण को जबानी समझा दिया। वह ब्राह्मण उनकी बुद्धि के चमत्कार को देखकर उनका शिष्य हो गया। साहित्यिक क्षेत्र मे भी उनका विशेष प्रभाव था।

उनके शास्त्रीयज्ञान के आगे बड़े बड़े विद्वान् भी हतप्रभ हो जाते थे। सत्ताइस आगमो पर उनकी तत्त्वपूर्ण टिप्पणियां (टब्बे) जैन-साहित्य की अमूल्य निधि है। इसके अतिरिक्त उनकी:—

१. समवायांग सूत्र की हुण्डी, २. भगवती सूत्र का यन्त्र, ३. रायपसेणी, ४. ठाणाङ्ग, ५ जीवाभिगम, ६, जम्बूद्वीप पन्नत्ती और चन्द्रपन्नत्ती यन्त्र, ७. व्यवहार तथा समाधि सूत्र की हुण्डी, ८ द्रौपदी और सामायिक की चर्चा, ९. साधु-समाचारी, १०. चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप, आदि कृतिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं।

उनकी उपदेश-शैली इतनी चमत्कारपूर्ण थी कि जो भी एक वार उनका व्याख्यान सुन लेता था उसके ज्ञान-नेत्र खुल जाते थे। यतियो के साथ चर्चा वार्ता करने में वे सिद्धहस्त थे। सैकड़ों व्यक्तियो ने उनकी चरण-शरण में बैठकर अपने जीवन का सुधार किया था। उनका प्रत्येक तर्क अकाट्य होता था।

यति समाज पर प्रभाव

वह युग एक प्रकार से यतियो का युग था। मूर्तिपूजा आदि वाह्य क्रियाकाण्डो का जनता मे विशेष प्रचार था। पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज ने अपनी अकाट्य युक्तियो के द्वारा पथ मे भूली जनता को सन्मार्ग बताया। अनेको यतियो ने आपके उपदेशों से प्रभावित होकर शुद्ध साधु-दीक्षा ग्रहण कर ली थी। आपके अनुयायी श्रावको की संख्या भी कुछ कम नही थी। तत्कालीन यति-समुदाय ने कई वार उनसे तत्त्व-चर्चाएँ कीं, पर किसी मे भी उसे सफलता नही मिली।

सफलता मिलती भी कैसे? सत्य तो श्री धर्मसिंह जी की ओर था। आपका प्रचार विशेषतया गुजरात और सौराष्ट्र के आस-

पास ही हो पाया था। शरीर अस्वस्थ रहने के कारण वे दूर के क्षेत्रो मे नही विचर सके। फिर भी उनकी यशःकीर्ति सारे देश मे व्याप्त हो चुकी थी। पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज के तत्कालीन प्रचार को पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज के प्रचार से बडा-भारी बल मिला था।

पूज्य श्री धर्मसिंह जी म० की मान्यता

मान्यताओ की भिन्नताओ के कारण ही साम्प्रदायिक भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। इन मान्यताओ के नाम पर ही समाज मे भिन्न-भिन्न परम्पराएँ चली है। यहाँ इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि सभी मान्यताएँ गलत नही होती। उनमे से कुछ सत्य भी होती हैं। हमारा स्थानकवासी जैन समाज वेश आदि अन्य सभी बातो मे समान है, लेकिन मान्यता के नाम पर उसमे समय-समय पर अनेक सम्प्रदायो का उदय हुआ है।

पूज्य श्री धर्मसिंह जी म० का विश्वास था कि मृत्यु अपने निश्चित समय पर ही आती है। अकाल मृत्यु को वे नही मानते थे। आयुष्य टूटने के सात कारणो को वे स्वीकार नही करते थे। दूसरी मान्यता उनकी सामायिक के विषय मे थी। वे मानते थे कि साधु की सामायिक नवकोटि से होती है और श्रावक की सामायिक आठ कोटि मे। इस मान्यता के पीछे उनके शास्त्रीय क्या आधार रहे हैं? यह एक विचारणीय प्रश्न है। उनकी साधु-समाचारी भी कई अंशो मे स्वतन्त्र सी हो थी। आज भी इन मान्यताओ का दरियापुरी सम्प्रदाय मे विशेष प्रचलन है। इस सम्प्रदाय का गुजरात मे अधिक प्रभाव रहा है।

स्वर्गवास और परम्परा

पूज्य श्री धर्मसिंह जी म० के स्वर्गवास के विषय मे प्रमाण-

पूर्ण सामग्री उपलब्ध नही हो पाई है। फिर भी कुछ लोग उनकी मृत्यु विक्रम सम्वत् १७२८ की आश्विन शुक्ला चतुर्थी को हुई मानते हैं। श्री लवजी ऋषि के पट्टधर श्री सोमजी ऋषि का पूज्य श्री धर्मसिंह जी के साथ हुआ वार्तालाप इस बात को प्रमाणित करता है कि उनकी मृत्यु श्री लवजी ऋषि के वाद हुई है।

आपकी परम्परा मे अनेक विद्वान् साधु और साध्वियाँ हुई हैं। आपके स्वर्गवास के वाद श्री सोमजी पूज्य हुए। इसके वाद मेघजी, द्वारकादास जी, मुरारजी आदि संत हुए। इसके वाद ग्यारहवे पाट पर सम्वत् १८३० मे शास्त्रार्थ-विजेता श्री प्रागजी महाराज हुए। 'समकित-सार' ग्रंथ के निर्माता श्री जेठमल जी महाराज भी इसी समय मे हुए हैं। यति वीरविजय के साथ उनका विक्रम सम्वत् १८७८ पोह शु. १३ के दिन राजकीय व्यवस्था मे शास्त्रार्थ हुआ था। साधुमार्गी समाज की ओर से श्री जेठमल जी म० आदि संत थे। इस शास्त्रार्थ में श्री जेठमल जी विजयी हुए थे। शास्त्रार्थ का विषय मूर्तिपूजा था। श्री प्रागजी स्वामी का स्वर्गवास वि० सं० १८३० मे माना जाता है। श्री धर्मसिंह जी म० की शिष्य-परम्परा अबाधित रूप से चली आई है। उनके २१ वे पाट पर वि० स० १९४० फाल्गुन शु० १ बुधवार को श्री रघुनाथ जी म० विराजमान हुए। ये विरम गाँव के रहने वाले थे। इनकी जाति भावसार थी। पिता का नाम डाह्या भाई और माता का नाम जवल बाई था। इनका जन्म १९०४ मे हुआ था। इन्होने १९२० की माह शु० १५ के दिन पूज्य श्री मलूक चन्द्रजी स्वामी के चरणो मे कलोल गाँव मे दीक्षा ली थी।

क्रियोद्धारक श्री धर्मदासजी महाराज

श्री लवजी ऋषिजी म० तथा श्री धर्मसिंह जी म० सत्तरहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे हुए हैं। श्री धर्मदास जी म० का अस्तित्व विक्रम की अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे माना जाता है। तीनो ही क्रियोद्धारक लगभग समकालीन थे।

श्री धर्मदास जी म० एक युगप्रधान संत थे। इनका जन्म विक्रम सम्वत् १७०१ चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन अहमदाबाद के पास 'सरखेज' गांव मे हुआ था। इस गांव मे भावसार जाति के ७०० घर थे। धर्मदास जी के पिता जीवन भाई पटेल भावसारो के प्रमुख थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम हीरा बाई था। बालक धर्मदास अपने माता-पिता की परमप्रिय संतान था। जीवन भाई और हीरा बाई दोनो ही जैन धर्मानुयायी थे। बालक के जीवन पर उसके अभिभावको के सस्कारो का विशेष प्रभाव पडता है। यही कारण था कि धर्मदास बचपन मे ही धार्मिक रुचि रखने लगा था। उसका शैशवकाल बडे ही सुन्दर सस्कारो मे बीता। कुछ बडा होने पर वह अपनी पारिवारिक परम्परा के धर्मगुरु श्री तेजसिंह जी यति की सत्सगति मे आने लगा। स्वल्पकाल मे ही उसने अपना प्रारम्भिक अध्ययन समाप्त कर लिया। यतिजी ने बालक की विलक्षण प्रतिभा को देखकर धीरे-धीरे उसे शास्त्रीय-ज्ञान देना आरम्भ कर दिया। धर्मदास की धार्मिक रुचि और धर्म-शास्त्रो के अध्ययन की तीव्र गति को देखकर गुरुजी भविष्य के अनेक सुनहरे स्वप्न देखने लगे।

वैराग्य-जागरण

शास्त्रो के गहन अभ्यास से उस होनहार बालक के हृदय मे

ससार के प्रति उदासीनता के भाव जागृत होने लगे। संसार की अनित्यता से ऊपर उठने के लिए उसकी आत्मा तिलमिलाने लगी। घर मे सभी प्रकार की सुख-सामग्री उपस्थित थी। किसी भी प्रकार की कमी नही थी। किंतु धर्मदास की रुचि धर्म के अतिरिक्त और किसी बात मे नही थी। वह अब ससार के मोहपाश से मुक्त होना चाहता था। इस समय उसकी अवस्था लग-भग पन्द्रह वर्ष की थी। प्रात साय नित्य सामायिक-प्रतिक्रमण करना वह कभी भी नही भूलता था। उसका जीवन सामान्य बालको की भाँति न होकर एक विशिष्ट बाल-योगी के रूप मे परिणत हो चुका था।

माता-पिता अपने पुत्र की धार्मिक उन्नति देख कर बडे ही प्रसन्न थे। उन्हे क्या पता था कि आज का यह बालक भविष्य मे साधुसमाज का अग्रणी नेता बनेगा। श्री तेजसिंहजी तो उसकी दिव्य प्रतिभा से इतने प्रभावित थे कि निकट भविष्य मे वे उसे अपना उत्तराधिकार का सकल्प ही कर चुके थे। माता-पिता कुछ और सोच रहे थे। गुरु के मन मे कुछ और था और बालक धर्मदास के विचार कुछ और ही थे। वह तो धर्म के प्रभाव से जनता को परिचित कराने के लिए संसार मे आया था।

एक नया पंथ

उन दिनो एक नये पथ का प्रचार बहुत बढ रहा था! इस पथ का नाम था 'पात्रिया सघ" इस पथ के ब्रह्मचारी लाल वस्त्र पहनते थे। भोजन के लिए हाथ मे एक पात्र रखने के कारण ही इसे लोग 'पात्रिया' कहने लगे थे। विक्रम सम्वत् १६६० माघ कृष्णा सप्तमी के दिन इस पंथ की उत्पत्ति हुई थी। तत्कालीन 'सर्वानिया' गाँव मे श्री प्रेमचन्दजी और श्री श्रीमालजी

नामक दो विशिष्ट व्यक्ति इसके आद्य संस्थापक थे। लोकागच्छीय यति श्री कुंवरजी से संघष होने के कारण ही यह नया पथ चलाया गया था।

इस पथ के अनुयायियो को यह मान्यता थी कि पचम-काल मे शुद्ध साधु व्रत नही निभाया जा सकता। जिस प्रकार १४ पूर्वो का ज्ञान विच्छेद हो गया है उसी प्रकार शुद्ध संयम का भी विच्छेद हो गया इस पथ मे साधु नही होते थे। इसके सभी प्रचारक श्रावक होते थे। इसी पथ के अग्रणी नेता श्री कल्याण-जा भाई एक वार विचरते हुए 'सरखेज' आये। यहाँ धर्मदास जो के जीवन पर उनका बडा गहरा प्रभाव पडा। इस समय तक उनका साधु वनने का दृढ संकल्प हो चुका था। किन्तु तत्कालीन यतियो के शिथिलाचार के कारण वे उनमें दीक्षित नही होना चाहते थे।

विवाह से इन्कार और शिष्यत्व स्वीकार

श्री धर्मदास जो की वैराग्य भावना का जब उनके पिता को पता चला तो उन्होने शीघ्र ही उन्हे वैवाहिक सम्बन्ध मे बांधना चाहा। किन्तु आपने अपने पिताजी मे स्पष्ट रूप मे कह दिया कि मैं विवाह करना नही चाहता। मै तो आजीवन ब्रह्मचारी रह कर सयमी जीवन व्यतीत करना चाहता हू। माता-पिता ने आपको वहुत समझाया, पर आप अपने निश्चय से तिलमात्र भी इधर-उधर न हुए। अन्त मे अपने पिताजी की आज्ञा लेकर आप पात्रिया सघ के श्री कल्याण जी के शिष्य वन गये। इस परम्परा मे अनुमानत. आप दो वर्ष तक रहे। संयोगवश एक दिन आप श्री भगवती सूत्र के २१ वे शतक के तीसरे उद्देशक का पाठ पढ रहे थे। उसम स्पप्ट रूप से भगवान् की यह उद्घोषणा थी कि-

यह शासन भगवान् के निर्वाण के अनन्तर २१००० वर्ष तक चलेगा।

शास्त्र का प्रमाण मिल जाने पर पात्रिया-संघ की मान्यता से उनका विश्वास हट गया। अब वे पच महाव्रतधारी मुनि बनना चाहते थे।

दीक्षाव्रत धारण

इन्ही दिनो मे अहमदाबाद मे श्री कहान जी ऋषि अपने पूज्य गुरुदेव श्री सोम जी ऋषि के साथ पधारे। जिनवाणी के रसिक श्री धर्मदास जी नित्य प्रति उनका व्याख्यान सुनने जाया करते थे। एक दिन श्री कहान जी ऋषि के मुख से निरयावलिका सूत्र के तीसरे वर्ग का उपदेश सुनकर वे गद्‌गद् हो उठे। उनका आन्तरिक वैराग्यभाव रोमरोम मे मुखरित हो उठा। पूज्य श्री सोमजी ऋषि के सन्मुख उन्होने अपने दीक्षा ग्रहण करने के भाव व्यक्त किये किन्तु मान्यतासम्बन्धी कुछ विचार भेद के कारण दीक्षा न हो सकी। अत में उन्होने अपने माता-पिता तथा अपने शिक्षागुरु श्री तेज-सिह जी यति से परामर्श लिया। जब उन्हे सब ओर का समर्थन प्राप्त हो गया तो विक्रम सम्वत् १७१६ को आश्विन शुक्ला ११ सोमवार के दिन अहमदाबाद की बादशाह-वाडी मे स्वयमेव दीक्षित हो गये। यह दीक्षाव्रत आपने अष्टम तप करके स्वीकार किया था। तप समाप्त होने पर आप उसके पारणे के लिए सहसा एक कुम्हार के घर पधार गये। कुम्हारी का मन उस दिन किसी कारण से अशान्त था। उसने आवेश मे आकर मुनि के पात्र मे राख डाल दी। श्री धर्मदास जी राख लेकर अपने स्थान पर आ गये और उस राख को छाछ में घोलकर शातिपूर्वक पी गये।

दूसरे दिन उन्होने यह सब वृत्तान्त अहमदाबाद मे विराजमान

महान् क्रियोद्धारक श्री धर्मसिंह जी म० से कहा। उत्तर मे पूज्य श्री धर्मसिंह जी ने कहा कि जिस प्रकार राख तुम्हारे पात्र मे फैल गई थी, इसी प्रकार एक दिन तुम्हारा श्रमण-परिवार चारो ओर फैल जायेगा।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कुछ पट्टावलियो मे श्री धर्मसिंह जी महाराज को अनुमति से आपके स्वय दीक्षित होने के प्रमाण मिलते हैं। जयतारण की पट्टावली मे श्री जीवराज जी म० के पास दीक्षा लेने का निर्देश है। कुछ पट्टावलियो में लिखा है कि आपने श्री कहानजी ऋषि के पास शास्त्राभ्यास किया था, किन्तु मान्यता-भेद के कारण उनके पास दीक्षित नही हुए। श्री कहान ऋषिजी पूज्य श्री सोम ऋषि के शिष्य थे। उनकी दीक्षा श्री लवजी ऋषिजी के स्वर्गवास के बाद मानी जाती है। श्री लवजी ऋषि के साथ उनकी चर्चा के प्रमाण भी मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि पीछे से किसी भ्रातिवश लवजी ऋषि के स्थान पर श्री कहान जी ऋषि का नाम जोड दिया गया। अत श्री धर्मदासजी एवं श्री लवजी ऋषि के साथ चर्चा होना ही अधिक सगत है। यह भी कहा जाता है कि श्री धर्मदास जी के साथ ’७ अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। कही-कही तीन और कही-कही सात पुरुषो के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है।

श्रमण-संघ का नेतृत्व

दीक्षा ग्रहण करने के बाद कुछ समय तक आप सौराष्ट्र मे ही धर्म प्रचार करते रहे। यहाँ आपने सैकडो प्राणियो को शुद्ध श्रमण-परम्परा का अनुयायी बनाया। कितनेही मुमुक्षुओ ने आपकी सत्प्रेरणा से शुद्ध साधु व्रत स्वीकार किये। स्वल्प काल मे ही आपका धर्म-प्रचार एक व्यापक रूप ले गया। सौराष्ट्र से विहार

करके आप मालवा प्रदेश मे पधारे। यहाँ पर भी आपके प्रचार को वडी सफलता मिली। इस समय तक आपके अनुयायियो का एक सुगठित सघ बन चुका था। आपकी प्रचार-कुशलता तथा शुद्ध सयम मे दृढता देखकर श्री सघ ने आपको मालवा के पाट नगर उज्जयिनी मे विक्रम सम्वत् १७२१ माघ शुक्ला पचमी के दिन संघ के पूज्य पद पर स्थापित कर दिया। इसके बाद आप पूरे ३८ वर्ष तक आगमानुकूल अपना धर्म-प्रचार करते रहे। गुजरात, मालवा, मेवाड, मारवाड, कच्छ और झालावाड आदि अनेक प्रदेशो में विचरण करके आपने भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार किया। मारवाड मे श्री धन्नाजी और धार मे श्री रामचन्द्रजी जैसे विशिष्ट व्यक्तियो ने आपके चरणो मे दीक्षित होकर आपके धर्म-प्रचार मे पूरी शक्ति के साथ सहयोग दिया। सघ-व्यवस्था मे आप बड़े ही कुशल थे। यही कारण था कि अनेको प्रातो के मुनिराज और श्रावक आपकी एक छत्र-छाया मे रह कर सुव्यस्थित रूप से अपने अपने कर्त्तव्यो का पालन करते रहे।

प्रचार और प्रभाव

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज ने अपने जीवन मे प्रचार को विशेष महत्त्व दिया। उनकी संयम-साधना बडी कठोर थी। जिन-वाणी के प्रचार में उन्होने अपना सर्वस्व लगा दिया था। एक बार जो भी उनके सम्पर्क मे आ जाता था, वह शिष्यत्व ग्रहण करके जाता था। उनकी प्रचार-साधना आदर्श थी। पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज की, की हुई भविष्यवाणी उस समय सचमुच सत्य होगई जब पूज्य श्री धर्मदास जी का विशुद्ध प्रचार थोडे ही समय मे बडे वेग के साथ भारत के अधिकाश भागो मे फैल गया। उनके प्रभाव मे एक आकर्षण था। उनका व्यक्तित्व

अनुपम था। सब उनके प्रभाव से प्रभावित थे। उनका स्वभाव वडा ही मिलनसार था। वे जिस किसी के सामने अपने पक्ष की स्थापना करते थे। उस समय वडे ही विवेक से काम लेते थे। श्री लवजी ऋषिजी महाराज और श्री धर्मसिहजी महाराज के साथ तत्त्व-चर्चाएँ करते समय आपने जिस निर्दोष धार्मिक स्नेह का परिचय दिया था, उसे स्थानकवासी समाज कभी भी नही भुला सकता।

शिष्य-परम्परा और सघ-व्यवस्था

तत्कालीन सभी महापुरुषो से पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के शिष्यो की सख्या अधिक थी। उनके ९९ शिष्य थे, जिनमे अनेक मुनिराज तो संस्कृत और प्राकृत भाषा के माने हुए पण्डित थे। पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का व्यक्तित्व सर्वतोमुखी था। इसीलिए उनका श्रमण और श्रावक परिवार आशातीत संख्या मे पहुँच चुका था। सघ-व्यवस्था की ओर उनका प्रारम्भ से ही लक्ष्य रहता आया था। वे सुव्यवस्थित धर्म-प्रचार के दृढ समर्थक थे। अपनी धर्म-प्रचार-योजना को व्यवस्थित तथा सुसगठित रूप देने के लिए आपने धार मे अपने शिष्यो तथा प्रशिष्यो का एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन मे आपने अपने समस्त शिष्य-परिवार को विक्रम सम्वत् १७७२ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अपने प्रमुख २२ शिष्यो के उत्तरदायित्व मे सौंप दिया। यह विभाजन केवल व्यवस्था की दृष्टि मे ही किया गया था। इसके पीछे किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना नही थी। आगे चलकर विभक्त श्रमण-समाज बाइस सम्प्रदाय के रूप मे परिणत हो गया। कही-कही पर इनके लिए 'बाइस टोला" शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा।

कुछ इतिहासकारो का मत है कि यह विभागीकरण पूज्य श्री धर्मदास जी म. के स्वर्गवास के वाद हुआ था। क्योंकि पूज्य श्री का स्वर्गवास वि. सं. १७७२ से पूर्व हो चुका था। इसके साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि पूज्य श्री के वाद १७६४ मे श्री मूलचन्द जी को पूज्य पदवी प्रदान की गई। इन सब प्रमाणो से यही मत अधिक उपयुक्त तथा इतिहास सम्मत लगता है कि पूज्य श्री धर्मदास जी म के स्वर्गवास के वाद उनके विद्वान् शिष्यो ने पूज्य श्री मूलचन्दजी महाराज के नेतृत्व मे अपने गुरु के समस्त शिष्य परिवार को २२ समुदायो मे विभाजित कर लिया। गुरु के होते हुए शिष्यों का २२ समुदायो मे विभक्त होना तथा उनकी उपस्थिति में ही उनके शिष्य का पूज्यपद ग्रहण करना किसी भी दृष्टि से उचित नही लगता।

वाईस संगठनों के नाम

(१) पूज्य श्री धर्मदास जी म० (२) पूज्य श्री धनराज जी म.
(३) पूज्य श्री लालचन्द जी म. (४) पूज्य श्री हरिदास जी म.
(५) पूज्य श्री जीवाजी म (६) पूज्य श्री बड़े पृथ्वीराजजी म,
(७) पूज्य श्री छोटे पृथ्वीराजजी (८) पूज्य श्री छोटे हरिदासजी म.
(९) पूज्य श्री मूलचन्दजी म. (१०) पूज्य श्री ताराचन्दजी म.
(११) पूज्य श्री प्रेमराजजी म. (१२) पूज्य श्री खेतशी जी म.
(१३) पूज्य श्री पदार्थ जी म. (१४) पूज्य श्री लोकमन जी म.
(१५) पू० श्री भवानीदासजी (१६) पू० श्री मलूकचन्द्र जी म.
(१७) पू पुरुषोत्तमदासजी म. (१८) पू० श्री मुकुटराम जी म.
(१९) पू० श्री मनोहरदासजी म (२०) पू० श्री गुरुसहायजी म.
(२१) पू० श्रीसमर्थ जी म. (२२) पू० श्री वाघसिंह जी म.

इन सभी संत-शिरोमणि मुनिराजो ने अपने-अपने सम्प्रदाय

की शिक्षा, और दीक्षासम्बन्धी व्यवस्था मे कोई कमी नही रखी थी। मुनिराजों के अनेक सघो मे विभक्त होकर धम-प्रचार करने से तत्कालीन श्रावक तथा साधु समाज को बडा भारी लाभ पहुँचा। वीर भगवान् के मुखारविंद से निकली हुई जिनवाणी गगा २२ धाराओ मे प्रवाहित होती हुई, भारत के कोने-कोने मे अपना सत्य सन्देश देने लगा।

आदर्श बलिदान

महापुरुषो का जीवन समूचे ससार के लिए आदर्श होता है। जिस प्रकार उनका जीवन सबके लिए महत्त्वपूण होता है उसी प्रकार उनका मरण भी महत्त्वपूर्ण होता है। युग पुरुष पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जीवन जिस प्रकार ससार के सन्मुख सयम का आदर्श उपस्थित करता रहा, ठीक उसी प्रकार उनका देहावसान एक अनूठा आदर्श बन गया। अपने जीवन मे अन्तिम दिनो मे वे मालवा की भूमि मे विचर रहे थे। उन्ही दिनो उन्होने सुना कि धार नगरी मे एक मुनि ने आजीवन अनशन अर्थात् सथारा कर दिया है। अब उसकी भावना अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हट रही है। वह अपनी प्रतिज्ञा को तोडना चाहता है।

पूज्य श्री जी ने यह समाचार सुनते ही धार नगरी मे समाचार भिजवा दिया कि मेरे आने तक अपनी प्रतिज्ञा मे दृढ रहे। मै शीघ्र ही पहुँच रहा हूँ। अनशनधारी मुनि की ओर से आश्वासन आते ही आपने धार नगरी की ओर विहार कर दिया। जैसे तैसे अनेक कष्टो को सहते हुए जल्दी से जल्दी धार नगरी मे पहुंच गए। वहाँ जाकर उन्होने सर्वप्रथम उस मुनि को समझाया कि तुम्हे यह प्रतिज्ञा पहिले खब सोच समझकर ग्रहण

करनी चाहिए थी। अब प्रतिज्ञा लेली है तो उसे भंग मत करो। किन्तु मुनि का साहस दूर हो चुका था। वह तो शीघ्र ही अपनी प्रतिज्ञा को भंग करने पर उतारू था। पूज्य श्री जी के उपदेश का उसके मन पर कोई प्रभाव नही पड़ा।

पूज्य श्री जी दिनभर के थके हुए थे। रास्ते में उन्हे बडी जोर की प्यास लगो, पर निर्दोप जल न मिल सका। जब से चले उन्होने आहार भी नही किया है। भूख और प्यास का परीसह अत्यन्त तीव्र होने पर भी वे कर्तव्य-पालन की बात कह रहे हैं। सत मर्यादा का उपदेश कर रहे है। किन्तु पत्थर पर पडी बून्द के समान मुनि पर कोई प्रभाव नही पडा रहा। अन्त मे उन्होने अपने आदर्श की रक्षा के लिए एक आदर्श मार्ग अपनाया अपने शिष्य श्री मूलचन्द जी महाराज को अपने श्रमण-संगठन का समस्त उत्तरदायित्व सौंप दिया। धार नगरी के श्री सघ को अपनी भावना बता कर शीघ्र ही उस मुनि के स्थान पर स्वयं सथारा ग्रहण करके बैठ गए। उन्होने भयकर सकल्प किया किन्तु उनके मन मे जीवन के प्रति कोई मोह नही था और मृत्यु से कोई भय नही था। वे निर्भय धर्मयोगी थे।

अनशन मे स्वाध्याय, जप, तप कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ नियमित रूप से चलती रही। नित्य आलोचना करते समय तो वे बडे ही स्वस्थ दीखते थे। ज्यो ज्यो शरीर की शक्ति कम होती जाती थी त्यो त्यो उनका आत्म-तेज विशेप रूप से चमकता जाता था। उनके मन मे अपनी प्रतिज्ञा के प्रति कोई सकल्प विकल्प नही थे। अन्त मे विक्रमसम्वत् १७५६ आषाढ शुक्ला पञ्चमी की सध्या को समाधि पूर्वक आपका स्वर्गवास हो गया। अपने आदर्श धर्म के पवित्र आदर्श की रक्षा के लिए किया गया उनका आत्म-बलिदान सदा के लिए इतिहास मे अमर हो गया। वे धन्य थे।

उनका जीवन धन्य था। उनका प्रत्येक क्षण धन्य था। वह धार नगरी भी युगो-युगो के लिए धन्य हो गई, जहाँ उनका प्रचार हुआ, संघव्यवस्था हुई तथा औरो मे महाप्रचार हुवा। उनके उपकार महान् थे। आज देश के कोने कोने मे फैली हुई श्वे स्था. जन परम्परा के वे मूल जनक थे। वे सही अर्थो मे भविष्य द्रष्टा थे। उन्होने जो कुछ कहा है उस पर चलना और उन्होने जो कुछ किया है उसे करना हम सबका यथासाध्य कर्त्तव्य है।

परिस्थितियाँ और उनका सुधार

पूज्यश्री धर्मदासजी महाराज का जन्म ऐसे समय मे हुआ था जब हमारे जैन समाज मे यतिवाद और मूर्तिवाद का सघर्ष बडे जोरो से चल रहा था। एक तरह से वह युग विश्वासो के टकराव का युग था। अधिकाश समाज यतिवर्ग के हाथो की कठपुतली बना हुआ था। यतियो का मत्र, तंत्र, और ज्योतिष आदि विद्याओ के कारण तत्कालीन सामंत कुलो मे बडा भारी प्रभाव था।

कही तपगच्छ और खरतरगच्छ टकरा रहे थे, तो कही दिगम्बर तारणपन्थ, बीसपन्थ और तेरह पन्थ का सघर्ष चल रहा था। चारो ओर धर्म, धर्म-शास्त्र, और साहित्य के नामपर एक अजीब द्व द मच रहा था।

इसी समय मे जब एक तरफ गणी यशोविजय जी जैन साहित्य को एक नयी दिशा दे रहे थे, और दूसरी ओर पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज प्रामाणिक शास्त्रो की छँटनी करके उन पर सरल शास्त्रीय टिप्पणियाँ एव हुण्डियां लिख रहे थे। इन शास्त्रीय टिप्पणियो (टब्बो) ने समाज मे एक ऐसी नव चेतना

फूँकदी कि जनता का विमुप्त विश्वास जागृत होने लगा। तभी इधर पूज्य श्री जी के शिष्यो ने अपने गुरुदेव के धर्म-प्रचार में पूरा पूरा साथ दिया, उनकी आध्यात्मिक-वाणी ने लोगो के कान खोल दिए। सारे सौराष्ट्र गुजरात, अहमदाबाद, पंजाब, मालवा, मारवाड़ तथा मेवाड आदि प्रमुख प्रदेशो में धर्म जागृति का विगुल वज उठा। यतिवर्ग के पैर उखड गये। जनता मे त्याग की विजय हुई। धर्म-पिपासु जनता ने पूज्य श्री जी को अपने धर्म-गुरु के रूप मे स्वीकार कर लिया। अब क्या था? इस आदर्श गुरु के शिष्यो की संख्या दिनो-दिन बढ़ती ही चली गई। इन्ही शिष्यो ने आगे चलकर समूचे श्रमण-परिवार को २२ विभागों मे बाँट कर देश के कोने २ मे अपना धर्म-प्रचार आरम्भ कर दिया। आज हमारी समाज का जो भी कुछ रूप दृष्टिगोचर हो रहा है उसमे परमादरणीय पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का कृपा का विशेष हाथ है। सच तो यह है कि यदि वे न होते तो न जाने समाज की क्या दशा होती? उनका जीवन समूचे समाज का परिष्कार कर गया। उनका त्याग, उनका तप, और उनका आत्म-बलिदान युगो-युगो के लिए धन्य हो गया। उन्हे अपने जीवन मे जो कुछ करना था कर गये। अब उनके बताये मार्ग को सुरक्षा और उसपर चलने का हम सबका कर्त्तव्य है।

क्रियोद्धारक श्री हरजी ऋषिजी महाराज

श्री हरजी ऋषिजी म० अपने समय के एक महान् युगप्रवर्तक संत हुए हैं। ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न होने के कारण उनका जीवन जन-साधारण के सन्मुख नही आ पाया है। श्रमण-परम्परा मे श्री हरजी ऋषि के नाम के कई मुनि हुए है। इसी कारण इतिहासकार उनके विषय में अब तक एक मत नही हो पाये है। कुछ इतिहासकारो का मत है कि श्री जीवराज जी महाराज के

साथ निकले हुए पांच महापुरुषो मे जो हरजी स्वामी हुए हैं वे ही क्रियोद्धारक श्री हरजी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ विद्वान् कहते है कि पाँचवे क्रियोद्धारक श्री हरजी ऋषि ने विक्रम सम्वत् १७८५ मे क्रियोद्धार किया था, अत. यह जीवराज जी के हरजी से भिन्न है। श्री हरजी ऋषि का इतिहास कुछ भी रहा हो, पर उनके विषय मे जो भी सामग्री आज उपलब्ध है, उसके आधार पर यह तो निश्चित ही है कि ये महापुरुष बडे ही दीर्घ तपस्वी तथा आगम-ज्ञाता थे। तत्कालीन यति-समाज से आपका काफी संघर्ष रहा था। आपने क्रियोद्धार से पूर्व कुछ प्रश्न भी यति-वर्ग के सन्मुख रखे थे। किन्तु क्रियाशिथिल यति वर्ग उनके प्रश्नो का कोई भी उचित उत्तर न दे सका। श्री हरजी ऋषिजी महाराज एक जाति-सम्पन्न महात्मा थे। उन्हे साधुता के नाम पर शिथिलाचार से अपार घृणा थी। वे शुद्ध संयम की साधना चाहते थे। उनके मन मे आत्म-कल्याण की उत्कट भावना जाग चुकी थी। यति-समाज मे रहना अब उनके लिए असंभव हो चुका था। वे दिखावटी बाह्य आडम्बरो से मुक्त होना चाहते थे।

पृथक् क्रियोद्धार क्यों ?

श्री हरजी ऋषिजी महाराज के पूर्व से ही क्रियोद्धार की परम्परा जाग चुकी थी। उनसे पहिले अनेक महापुरुषो ने अपना क्रियोद्धार कर लिया था। उन सबकी विस्तृत शिष्य-परम्परा अनेक प्रदेशो मे अपना धर्म-प्रचार कर रही थी। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि शुद्ध क्रियाशील साधुओ के होते हुए स्वय सयम धारण करना कहाँ तक उचित है। इस विषय मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रदेश मे जिस किसी महापुरुष ने क्रियोद्धार किया होगा, दूसरे क्रियोद्धारक महापुरुष किसी कारणवश उन तक नही पहुँच पाये होंगे। दूसरी

वात परिस्थिति की भी विवशता होती है। शीघ्र ही क्रियोद्धार करने की परिस्थिति मे सच्चे संतो की खोज मे निकलना, किसी भी मुमुक्षु के लिये संभव नही होता। यहां इस विषय मे एक वात वता देनी और भी आवश्यक है कि उन दिनो क्रियोद्धारक महानुभावो मे कठिन संयम-साधना की एक होड सी लग रही थी। पत्येक क्रियोद्धारक अधिक से अधिक कठोर साधना करना चाहता था। दूसरे क्रियोद्धारको के पास जाकर दीक्षा लेने मे उसे उनके साथ चलना पड़ता था। ऐसी स्थिति मे आगे वढने की प्रगति शिथिल हो जाती थी। क्रियोद्धार की भावना-गति वडी तीव्र होती है। पृथक् पृथक् अपना क्रियोद्धार करने मे अपने अपने आरम्भ किये हुए कार्य को आगे वढाने की सवको पूरी लगन रहती है। आध्यात्मिकता को हो सदा ही लाभदायक होती है।

एक विशेष गुण

पिछले सभी क्रियोद्धारको का विशेपतया क्रिया के उद्धार का ही लक्ष रहा है। श्री हरजी ऋषिजी महाराज मे क्रिया-उद्धार के साथ-साथ श्रमण-संस्था को सगठित रूप देने का भी विशेप गुण था। वे चाहते थे कि सभी शुद्ध सावनाशील श्रमण यदि सगठित हो कर आगम-विरुद्ध मान्यताओ से टक्कर ले तो आसानी से सफलता मिल सकती है। किसी अश मे उनका यह प्रयत्न सफल भी हुआ, पर उसे जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी उतनी न मिल सकी। आपस मे आचरणसम्बन्धी अनेक विचार-भेद होने के कारण अन्य सगठनो के संत सामूहिक रूप से एकत्रित न हो सके। पर इसका यह अर्थ नही था कि वे आपस में एक दूसरे का विरोध करते थे। सभी प्रेम से मिलते थे। वार्त्तालाप करते थे। आवश्यकता होने पर धार्मिक प्रचार मे एक दूसरे की सहायता भी करते थे। धार्मिक रूप से उनमें कोई मत-भेद नही था। सवका लक्ष्य

एक ही ओर था। मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर भी सबका आदर्श एक ही था। सभी सत्पथ पर चलते थे और दूसरो को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देते थे।

आगमों के विशेष मर्मज्ञ

शास्त्र का कथन है कि क्रिया-हीन ज्ञान किसी काम का नहीं होता। केवल मात्र जानकारी से किसी का कल्याण नही हो सकता। सत्य विश्वास और सत्य ज्ञान के साथ-साथ सत्य आचरण की जीवन मे अत्यन्त आवश्यकता रहती है। प्रत्येक साधना मे आचरण का मुख्य महत्त्व माना गया है। यदि वह आचरण ज्ञानसहित हो तो फिर कहना ही क्या ? श्री हरजी ऋषिजी महाराज मे दोनो ही गुण विद्यमान थे। वे सफल क्रियावान् तो थे ही साथ मे पूर्ण विद्वान् भी थे। जिनवाणी के सूक्ष्म तत्त्वो का उन्हे बडा ही विशद ज्ञान था। प्राकृत भाषा के साथ २ उन्होंने सस्कृत का भी अध्ययन किया था। उन्होने तत्कालीन साधु समाज की भलाई के लिए अनेक बोल–मर्यादाएँ भी निर्धारित की थी। उनका अनुशासन बडा ही कठोर होता था। अनेक साधु महात्माओ ने उनसे शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया था। अपने विरोधियो को सदा वे प्रेम से ही समझाते थे। क्रोध तो मानो उनको छू ही नही गया था। पूज्यवर श्री हरजी ऋषि की सम्प्रदाय आगे चलकर 'कोटा सम्प्रदाय' के नाम मे अधिक प्रसिद्ध हुई। इस सम्प्रदाय मे उन दिनों २६ महापण्डित मुनिराज और एक परम पण्डिता साध्वीजी थी। इस प्रकार सत्ताईस साधु तथा साध्वीजी का परिवार था। इस परिवार मे श्री लालचंद जी महाराज एक परम त्यागी महापुरुष हुए हैं।

———

प्रकरण सातवाँ

महापुरुषों की परम्परा

महापुरुष समूचे संसार की सम्पत्ति होते हैं। उनका जीवन समस्त मानव-समुदाय के हित के लिए होता है। प्रत्येक महापुरुष एक 'कर्त्तव्य संहिता' होता है। उसके जीवन का प्रत्येक दिन अनेक सार-गर्भित शिक्षाओ से परिपूर्ण एक पृष्ठ के समान होता है प्रत्येक दिन का प्रत्येक क्षण एक आदर्श शिक्षा-प्रद शब्द होता है। महापुरुषो की परम्परा युगो-युगो की परम्परा है। वह पहिले थी, आज है और भविष्य मे भी रहेगी। भारतीय महापुरुष सूर्य के समान जगत्प्रकाशक रहे है। जैसे सूर्य एक पूर्व दिशा से ही जन्म लेता है किन्तु उसके प्रकाश से सारा ससार आलोकित हो उठता है। भूत काल मे हुए समस्त महापुरुषो का क्रमिक वर्णन करना तो किसी के वश की बात नही है। उनका इतिहास कालगणना की परिधि से बाहर है। अत हम इस प्रकरण मे केवल कतिपय महापुरुषो की परम्परा मे से कुछ विशिष्ट व्यक्तित्यो का ही वर्णन करेगे। इनके अतिरिक्त और भी जो महापुरुष हुए हैं वे भी हमारे इतिहास की विशिष्ट विभूतियां हैं। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उनका स्मरण करना हमारी सांस्कृतिक परम्परा का कर्त्तव्य है! अत· वर्णित महापुरुषो के

अतिरिक्त समस्त महापुरुषो के मंगल स्मरण से ही हम अपने इस प्रकरण का शुभारम्भ कर रहे हैं।

पूज्य श्री जीवराजजी महाराज की परम्परा

प्रथम क्रियोद्धारक श्री जीवराज जी महाराज अपने समय के प्रसिद्ध शुद्ध संयमी मुनिराज हुए हैं। आपने अपने प्रचार मे मुख्यत. तीन बातो पर विशेष बल दिया था। (१) बारह अग सूत्र, बारह उपाङ्ग सूत्र, चार मूल सूत्र और चार छेद सूत्र य वत्तीस आगम ही प्रामाणिक है (२) मुख वस्त्रिका मुख पर बांधना और रजोहरण सर्वदा साथ रखना प्रत्येक मुनि का कर्त्तव्य है (३) मूर्तिपूजा अनावश्यक है।

ये तीनो ही धार्मिक सिद्धान्त हमारे धर्म के मूल विश्वास हैं। आज हम स्थानकवासी समाज में जो धार्मिक व्यवस्था का रूप देख रहे हैं वह इन्ही महात्मा का कृपाप्रसाद है। वैसे यह धार्मिक व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है। समय के प्रभाव मे जब जब इसमे कुछ शिथिलता आई तब तब महापुरुषो ने क्रियोद्धार करके उसे पुन सुव्यवस्थित रूप दिया। श्री जीवराज जी महाराज सत्तरहवी शताब्दी के प्रथम धर्मसुधारक हुए हैं। उनकी शिष्य-परम्परा बडो विशाल रही है। उसमे अनेक त्यागी, तपस्वी तथा विद्वान् सत हुए हैं। उन सब का पूर्ण परिचय देना तो संभव नही है, यहां केवल कतिपय विशिष्ट विभूतियो का ही परिचय दिया जा रहा है। इन विभूतियो के परिचय से धर्म-जिज्ञासु जनता को श्री जीवराज जी महाराज के परम पुनीत गौरव का ज्ञान अवश्य ही हो सकेगा।

पूज्यपाद श्री धनजी महाराज

पूज्य श्री जीवराज जी महाराज के शिष्यो में दो शिष्यो के नाम प्रमुख रूप से आते है। सर्वश्री धन जी तथा श्री लाल चंद जी। श्री धनजी स्वामी बड़े हो प्रभावक महा सत हुए हैं। श्री जीवराज जी के स्वर्गवास के बाद आपने ही उनके पद के कार्य भार को समुचित रूप से सभाला था। आपके विषय मे एक किंवदन्ती है कि एक बार बीकानेर की महारानी ने आपसे राज्य मे पधारने की प्रार्थना की थी। आप जब बीकानेर पधारे तब विरोधियो ने द्वार पर ही आपको रोक दिया। पास ही मे श्मशान की स्मारक छतरियाँ थी। वही आप अपने शिष्य-समुदाय के साथ ठहर गये। यहाँ आपको आठ दिन निराहार हो गए। नवमे दिन किसी तरह ये समाचार महारानी जी तक पहुँच गये। महारानी जी ने स्वय आकर मुनिराजो से क्षमा माँगी और बड़े समारोहपूर्वक आपका नगर-प्रवेश करवाया। यहाँ आपके पवित्र उपदेशो से अनेक भव्य आत्माओ ने आत्मकल्याण का मार्ग स्वीकार किया। कुछ अनुवदन्तियो और पवित्र नाम के अतिरिक्त आप का विशेष परिचय उपलब्ध नही है।

आपके बाद श्री विष्णुजी तथा श्री मनजी क्रमश इस सम्प्रदाय के पूज्य हुए। तत्पश्चात् जयपुर राज्य के खण्डेलवाल जैन दिगम्बर परिवार मे से श्री नाथुराम जो हुए। आप शास्त्रार्थ-कला में बड़े ही कुशल थे। श्री लक्ष्मीचन्द्र जी और श्री रायचन्द्र जी ये आपके दो शिष्य हुए हैं। लक्ष्मीचन्द्र जी के शिष्य छत्रपाल जी तथा उनके दो शिष्य राजा रामाचार्य और उत्तमचन्द्राचार्य हुए। राजा रामाचार्य की परम्परा मे श्री रामलाल महाराज तथा श्री फकीरचन्द्र जी म० हुए है। धर्मोपदेष्टा श्री फूलचन्द्र जी महाराज श्री फकीरचन्द्र जी म० के ही शिष्य हैं।

श्री उत्तमचन्द्राचार्य की परम्परा मे श्री रत्नचन्द्र जी म० तथा श्री मंजुलाल जी म० हुए है।

पूज्यपाद श्री मंजुलाल जी महाराज

आपका जन्म "चन्द्रजी का गुड़ा" नामक ग्राम मे हुआ था। जाति से आप पल्लीवाल थे। लघु वय मे ही आपने दीक्षा धारण कर ली थी। आपकी माताजी तथा बहन भी जैन श्रमणी-सघ मे दीक्षित हो गई थी। स्वमत तथा परमत के आप पूर्ण विद्वान् थे। ज्योतिष विद्या मे उन दिनो आपका अद्वितीय स्थान माना जाता था। सस्कृत प्राकृत के साथ-साथ आप अंग्रेजी, फारसी और अरबी के भी विशिष्ट विद्वान् थे। आपके असाधारण पाण्डित्य से प्रभावित हो कर ही तत्कालीन अलवर-नरेश महाराजा मंगल सिह ने आपको 'राज्यपण्डित' की उपाधि मे अलंकृत किया था।

शास्त्रार्थ-कला मे तो उन दिनो आप की धाक मची हुई थी। आपका प्रत्येक तर्क अकाट्य होता था। कहते हैं—एक बार श्राद्ध के विषय पर शास्त्रार्थ करते हुए एक पण्डित ने कहा कि जैसे मनीआर्डर-द्वारा भेजा हुआ रुपया यथास्थान पहुँच जाता है, उसी प्रकार श्राद्ध का अन्न भी पितरो को मिल जाता है।

विलक्षणबुद्धि श्री मंजुलाल जी महाराज ने तुरन्त ही भरी सभा मे प्रश्न कर दिया कि पण्डितो के पास उस मनीआर्डर की रसीद भी है या नही ? इस प्रश्न से पण्डित लोग निरुत्तर हो गए। यह शास्त्रार्थ अलवर मे हुआ था। मुनि श्री जी के युक्तिवाद से महाराजा मंगलसिह जी बडे प्रसन्न हुए। उन्होने महाराज श्री को उपहार देना चाहा, पर त्यागी मुनिराज ने लेने मे इन्कार कर दिया।

आप त्यागी तो थे ही साथ ही साथ विद्वान् कवि भी थे। 'शान्ति प्रकाश' ग्रंथ आपके पाण्डित्य का जीता-जागता प्रमाण है। श्री मोतीलाल जी महाराज आपके प्रमुख विद्वान् शिष्य थे।

श्री रामचन्द्र जी म० के शिष्य श्री रतिराम जी तथा इनके शिष्य श्री नन्दलाल जी म० के श्री जोकीराम जी, श्री किशनचंद जी तथा श्री रूपचन्द्र जी म० ये तीन शिष्य हुए।

श्री जोकीराम जी के बाद श्री चैनराम जी और घासीलाल जी म० हुए। श्री घासीलाल जी के श्री गोविन्दराम जी, श्री जीवनरामजी और श्री कुन्दन लालजी ये तीन शिष्य हुए। वर्तमान श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रसिद्ध संत, सर्व धर्म-सम्मेलन के प्रेरक तथा अहिंसा-शोध-पीठ जैसी विशाल संस्था के संस्थापक श्री सुशील कुमार जी महाराज श्री गोविन्द रामजी के शिष्य श्री छोटेलाल जी महाराज के शिष्यरत्न हैं।

श्री जीवराज जी म० के दूसरे शिष्य श्री लालचन्द्र जी के-श्री अमरसिंह जी, शीतलदास जी, गंगाराम जी और दीपचन्द्र जी ये चार शिष्य हुए। श्री अमरसिंह जी की परम्परा मे क्रमश श्री तुलसीराम जी, श्री सुजानमलजी, श्री जीतमल जी, ज्ञानमल जी, पूनमचन्द्र जी, जेठमल जी, नैनमल जी, दयालचंद जी और ताराचन्द्र जी हुए। श्री ताराचन्द्र जी के शिष्य श्री पुष्कर मुनिजी महाराज हैं।

श्री पुष्कर मुनिजी महाराज

आप जन्म मे ब्राह्मण हैं। वि० सम्वत् १९८१ में आपने दीक्षा ग्रहण की। संस्कृत तथा प्राकृत आदि भाषाओं का आपको विशिष्ट ज्ञान है। आप लेखक, वक्ता और कवि भी है। "सूरि-

काव्य, "आचार्य सम्राट्" आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। स्वभाव से आप बडे ही मिलनसार हैं। आपकी व्याख्यानशैली बडी ही रोचक है। जनता मे धार्मिक श्रद्धा जागृत करना आपका मुख्य कार्य है, आप इतिहास के भी बड़े प्रेमी हैं। आपके पास अनेक ऐतिहासिक सामग्रियाँ सगृहीत हैं। श्री जीतमल जी महाराज की कला-कृतियो के सुन्दर-सुन्दर चित्र आपके पास सुरक्षित है। इन चित्रो से पता चलता है कि पिछली शताब्दियो का मुनिसमाज धर्मप्रेमी होने के साथ-साथ कलाप्रेमी भी रहा है।

श्री शीतलदास जी की परम्परा मे श्री देवीचन्द्र जी, श्री हीरा चन्द्र जी, श्री पन्नालाल जी, श्री नेमिचन्द्र जी, कजोडीमल जी और श्री छोगालाल जी आदि दश सत हुए है। श्री छोगालाल जी के श्री मोहन मुनि जी महाराज हैं।

श्री गंगाराम जी महाराज की परम्परा मे श्री जीवनराम जी म०, श्री चन्द्रजी म०, श्री जवाहर लालजी म०, श्री माणकचंद जी म० और श्री पन्नालाल जी महाराज हुए। जंगल देश पंजाब के लोकप्रिय प्रसिद्ध कवि श्री चन्दन मुनिजी महाराज श्री पन्ना-लालजी म० के शिष्य हैं। प्रसिद्ध मूर्तिपूजक सत श्री आत्मारामजी (विजयानन्द सूरि) पहिले इसी परम्परा के संत श्री जीवनराम जी के शिष्य थे। विपरीत श्रद्धा होने के कारण बाद मे उन्हे सम्प्रदाय से अलग कर दिया गया था।

श्री दीपचन्द्र जी महाराज के श्री स्वामीदास जी और मलूक चन्द्र जी ये दो शिष्य हुए। श्री स्वामीदासजी की परम्परा मे उग्रसेन जी, घासीराम जी, कनीराम जी, ऋषिराय जी, रगलाल जी और फतहचन्द्र जी म० हुए।

श्री मलूकचन्द्र जी के शिष्य श्री नानकराम जी हुए। इनके बाद वि० स० १८३६ मे श्री निहालचन्द जी विक्रम स० १८५८ मे श्री वीरभान जी म० हुए। श्री वीरभान जी के बाद पूज्यश्री सुखलाल जी म० हुए। ये पुष्कर के पास किलागांव के निवासी थे। इनका गोत्र लुनावत था। वि० सं० १८६१ मा० शु० १० को इनकी दीक्षा हुई थी।

पूज्य श्री वीरभान जी के शिष्य लक्ष्मणदासजी और उनके श्री मगनमल जी हुए। श्री मगनमल जी के श्री मोतीराम जी म० हुए। वर्तमान श्रमण सघ के प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी महाराज इन्ही के शिष्य हैं।

प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी महाराज

आपका जन्मस्थान 'कीतलसर' (डेगाना) है। जाति से आप माली हैं। आपका गोत्र भाटी है। आपके पिता श्री बालूराम जी एक प्रसिद्ध राज्य-कर्मचारी थे। आपकी माता का नाम श्री तुलसा जी था। वि० स० १९४५ भाद्र शुक्ला ३ शनिवार के दिन आपका जन्म हुआ। कीतलसर के ठाकुर से अन-बन होने के कारण आपके पिताजी थावला (मेडता) आ गये थे। यही पर विक्रम सम्वत् १९५६ मे आपको श्री मोतीराम जी महाराज के दर्शन हुए। इस समय आपकी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी। सत्सग की रुचि आपको बचपन से ही थी। संत-समागम प्राप्त होते ही आप का वैराग्य भाव जाग उठा। विक्रम सम्वत् १९५७ वैशाख शुक्ला ६ को आपने दीक्षा ग्रहण कर ली। आपकी दीक्षा कालू (मारवाड) मे श्री चन्दनमल जी पाटनी की व्यवस्था मे हुई थी। श्री गुरुदेव का शीघ्र ही स्वर्गवास हो जाने के कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा का समस्त उत्तरदायित्व श्री गजमल जी म० तथा श्री फूलचद

जी म० ने निभाया। ये दोनो ही संत आगम-साहित्य के उद्भट विद्वान् थे।

श्री पन्नालाल जी म० आरम्भ से ही सुधारवादी रहे हैं। अहिंसा प्रचार तो आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जाति-सुधार के आपने अनेक महत्त्वपूर्ण काम किये है। आप शास्त्रो के सूक्ष्म तत्त्वज्ञ हैं। आपकी व्याख्यानशैली बडी ही आकर्षक है। स्वाध्याय के प्रति आपकी विशेष रुचि है। ज्योतिष विद्या के भी आप ज्ञाता हैं। वर्तमान श्रमण-सघ मे आपका एक विशेष स्थान है।

पूज्यश्री सुखलाल जी म० के बाद यह परम्परा दो धाराओ मे विभक्त हो गई। एक धारा के प्रमुख पूज्यश्री अभयराज जी हुए और दूसरी धारा के पूज्य श्री हरकचन्द्र जी हुए। इनके बाद दयालुचन्द्र लक्ष्मीचन्द्र और फिर श्री हगामीलाल जी महाराज का नाम आता है। श्री हरकचन्द्र जी के बाद इस परम्परा में कोई आचार्य नही हुआ। सम्प्रदाय का समस्त उत्तरदायित्व मुख्य सतो के हाथो में रहता आया है।

—×—

पूज्य श्री लवजी ऋपिजी म० की परम्परा

सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे होने वाले क्रियोद्धारको में पूज्यश्री लवजी ऋषिजी म० का नाम प्रमुख रूप से आता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उन्हे महान् क्रियोद्धारक स्वीकार किया गया है। इनकी परम्परा में अनेक प्रभावशाली, शास्त्रज्ञ और शास्त्रार्थकुशल महा मुनिराज हुए हैं। धर्मप्राण श्री लोकाशाह की शुद्ध साधुत्व की परम्परा को जागृत करने का श्रेय इन्ही महापुरुप को मिला था। विप पी कर समाज को अमृत का प्रसाद

देना आपकी एक अनुपम विशेषता थी। शासन-प्रभावक पूज्य श्री सोम जी ऋषि जैसे संतपुरुषो ने आपकी चरण-शरण में शिष्यत्व लिया था। इस शिष्यरत्न ने ही एक ऐसे पुण्यश्लोक व्यक्ति को अपने श्रमणसमाज मे दीक्षित किया था, जिसने अपने ज्ञानबल, तपोबल, और प्रचारबल से अपने पूर्वजों की कीर्ति को दिग्दिगन्तव्यापिनी बना दिया। हमारे पाठक तथा पाठिकाएँ उस महात्मा का नाम जानने के इच्छुक होगे। अगली पंक्तियाँ उसी धर्मपुंज के नामाकन से अपने शाब्दिक शरीर को कृतकृत्य मान रही हैं।

पूज्यश्री कहान जी ऋषि जी महाराज

पूज्य श्री लवजी ऋषिजी म० के द्वितीय पट्टधर पूज्यश्री सोमजी ऋषिजी के शिष्यो मे श्री कहान जी म० का नाम विशेष रूप से आता है। इनका जन्म सूरत नगर मे हुआ था।

बचपन से ही इन्हे विशेष धार्मिक रुचि थी। संत-समागम से लाभ लेना आप कभी नही चुकते थे। यही कारण था कि बचपन में ही आपको बहुत सा शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो गया। वि सं. १८१० के सूरत चातुर्मास मे आप पूज्यश्री लवजी ऋषिजी म० के व्याख्यानो मे नियमित रूप से आया करते थे। उनकी वैराग्यपूर्ण वाणी से प्रभावित होकर आपने श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर लिये। इस चातुर्मास मे आपने खूब धर्म-ध्यान किया। धर्म के प्रभाव से आपके हृदय मे वैराग्य भावना का उदय हो गया। आप दिन-रात धार्मिक चिंतन में तल्लीन रहने लगे।

वि सं. १८१३ मे पूज्यश्री सोमजी ऋषि सूरत पधारे। पूज्य म० श्री के सत्समागम से आपको वैराग्य भावना और प्रबल

हो गई। अब आप दीक्षित होना चाहते थे। संसार की क्षण-भगुरता को आप अच्छी तरह पहचान चुके थे। सयम-पालन की दृढ भावना देखकर पूज्य श्री जो ने सूरत के श्रीसघ के समक्ष बड़े ही समारोहपूर्वक दीक्षाव्रत प्रदान कर दिया। सोना और सुहागा दोनो मिल गए। स्वर्ण चमक उठा। उसका मैल छूट चुका था। नवदीक्षित श्री कहान जी ऋषि बचपन से ही शास्त्राभ्यासी थे। सद्गुरु की शरण मे आकर आपने अपने आगम-अभ्यास को और मनोयोगपूर्वक चलाया। थोड़े ही समय मे आप काव्य, व्याकरण, न्याय तथा आगमो के विशिष्ट विद्वान् हो गए। एक अनुश्रुति के अनुसार आपको चालीस हजार श्लोक-प्रमाण सामग्री कण्ठस्थ थी। विक्रम सम्वत् १८१६ मे आप अपने गुरुदेव श्री के साथ अहमदाबाद आये। यहाँ आपके श्रीमुख से निरियावलिका सूत्र का प्रवचन सुनकर श्री धर्मदास जी के हृदय मे वैराग्य भावना जागृत हो गई। किंतु वे किसी कारणवश दीक्षा नही ले सके।

धर्म-प्रचार और शिष्य-परिवार

श्री कहानजी ऋषिजी विद्वान् होने के साथ-साथ एक सफल धर्म-प्रचारक भी थे। उन्होने अपने गुरुदेव की आज्ञासे अनेक प्रान्तो मे जा-जा कर धर्म-प्रचार किया। उनके सच्चे उपदेशो से प्रभावित होकर सैकडो व्यक्तियो ने सम्यक्त्वरत्न' प्राप्त किया। मालवा देश मे तो आपके प्रचारो ने नवीन जागृति फूँक दी। ज्ञान और चारित्र की आप अप्रतिम मूर्ति थे। दुर्धर तपोव्रत-पालन में भी सर्वदा अग्रणी रहे थे। निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करने का तो आपका नियम था। अपने गुरुदेवश्री के स्वर्गवास के बाद आप ही ने उनके 'पद' को सुशोभित किया। आप मालवा प्रात मे ऋषि-सम्प्रदाय के सर्वप्रथम महापुरुष माने

जाते हैं। रतलाम, जावरा, मन्दसौर, प्रतापगढ, शाजापूर, शुजालपूर, और भोपाल आदि क्षेत्रो मे आज भी आपका यश विद्यमान है। आपका शिष्यपरिवार बड़ा ही विशाल था। सभी शिष्यों का पूर्ण वृत्त उपलब्ध नही है। केवल कुछ विशिष्ट शिष्यो की नामावलि प्राप्त हो पाई है। जो निम्न प्रकार से है:—

(१) श्री ताराऋषि जी (२) श्री रणछोड जी (३) श्री गिरधर ऋषि जी (४) श्री माणक ऋषिजी (५) श्री कालू ऋषि जी।

पूज्य श्री कहान जी ऋषि ने २३ वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी और सत्ताइस वर्ष तक शुद्ध संयम पालन किया। आपके बाद श्री तारा ऋषि जी पाट पर विराजमान हुए। आपका प्रचार-क्षेत्र विशेष रूप से मालवा माना जाता है। श्री रणछोड जी म० अधिकतर गुजरात तथा काठियावाड मे विचरे। पूज्य श्री तारा ऋषिजी म० के २२ प्रमुख शिष्य हुए है। उनमे से श्री काला ऋषि जी तथा श्री मगल ऋषि जी के नाम महत्त्वपूर्ण माने गये है। श्री काला ऋषि जी से 'मालवा शाखा' का तथा श्री मंगल ऋषि जी से खम्भात शाखा का उदय हुआ।

ऋषि सम्प्रदाय की पट्टावलि के अनुसार श्री लवजी ऋषि के पाँचवे पाट पर पूज्य श्री काला ऋषि जी माने गये हैं। इनके पश्चात् इन्ही के मुख्य शिष्य श्री बक्षु ऋषिजी महाराज आचार्यपद पर आये। पूज्य श्री बक्षु ऋषिजी की शिष्य-परम्परा मे से केवल दो शिष्यो के नाम ही उपलब्ध हो पाये हैं। श्री पृथ्वी ऋषिजी तथा श्री धनजी ऋषिजी। ये दोनो ही गुरुभ्राता थे। पूज्य श्री बक्षु ऋषिजी के बाद पूज्य-पदवी श्री धनजी ऋषिजी को प्राप्त हुई। किसी शास्त्रीय धारणा के आधार पर दोनो मुनिराजो में मतभेद की दीवार खड़ी हो गई। ऋषि-सम्प्रदाय की अखण्ड भूमिका दो

भागो मे विभक्त हो गई। कुछ साधु तथा साध्वियाँ इधर सम्मिलित हो गई और कुछ उधर श्री पृथ्वीऋषिजी के संगठन मे सम्मिलित हो गई। दो पृथक्-पृथक् संगठन होने पर भी एक महत्त्वपूर्ण नियम दोनो दलो ने निभाया। आचार्य श्री धनजी ऋषि ही रहे। संगठन की भावना से दूसरे दल ने अपना पृथक् आचार्य नही बनाया। सत्य तो यह है कि यह उस समय के उन भविष्यद्रष्टा मुनिराजो का महान् बलिदान था। सघ-एकता के लिए किया गया आदर्श त्याग था। दोनो दलो ने अपने पूर्वजो के मार्ग पर चलने के सकल्प के साथ-साथ यह दृढ निश्चय कर लिया था कि भले ही आपस मे कितने ही मतभेद हो जावे, पर एक दूसरे की निन्दा नही करेगे। अपनी-अपनी गुरु परम्परा के अनुसार दृढ सयम पालते रहेगे।

श्री पृथ्वी ऋषिजी की शिष्य-परम्परा मे अनेक प्रभावक सत हुए हैं। उनमें श्री जीवा ऋषिजी और श्री भीम ऋषिजी आदि सतो के नाम विशेष हैं। श्री सोम ऋषिजी के शिष्य श्री हरखा ऋषिजी हुए। इन्हे शास्त्र-विशारद श्री पृथ्वी ऋषिजी ने स्वयं अपने करकमलो द्वारा दीक्षित किया था। ये अपने समय के महा प्रभावक संत थे विक्रम सम्वत् १९३१ मे श्री हरखा ऋषिजी के चरणो मे मालवाप्रान्तीय 'गुडा मोगरा' नामक ग्राम के निवासी श्री स्वरूप चन्द्रजी के पुत्र श्री सुखानन्द जी ने भागवती दीक्षा स्वीकार की। गुरुदेव ने इनका नाम श्री सुखा ऋषिजी रखा। इनका जन्म वि० स० १९२३ की श्रावणी पूर्णिमा के शुभ दिन हुआ था। केवल आठ वर्ष की लघु आयु मे आप जैन साधु हो गए थे। आप बड़े मेधावी संत थे। पूरे सत्ताईस वर्ष तक आपने भारत की जनता मे धर्म-प्रचार किया। विक्रम सम्वत् १९५८ श्रावणी पूर्णिमा के दिन ३५ वर्ष की आयु मे आपका स्वर्गवास हो गया। आपके सात

शिष्यो में श्री श्रमी ऋपिजी म० का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

कविवर्य श्री श्रमी ऋपिजी महाराज

आपका जन्म वि० स० १९३० मे हुआ था। आपके पिताजी श्री भैरूलाल जी दलोट (मालवा) के निवासी थे। आपकी माता का नाम श्री प्यारा बाई था। वि० स० १९४३ की मार्गशीर्ष कृष्णा ३ के दिन आपने मगरदा (भोपाल) मे पण्डितराज श्री सुखा ऋपिजी से श्रमण-दीक्षा ली थी। आप बडे ही मेधावी मुनिराज थे। आपकी प्रवचन-शैली बडी ही प्रभावोत्पादक थी। जैनागमो के अतिरिक्त आप अन्य धर्मों के ग्रथो के भी विशिष्ट विद्वान् थे। शास्त्रार्थ-कला मे आप अत्यन्त निपुण थे। अनेक कष्टो को सहकर भी आप अपने लक्ष्य तक पहुँचे बिना नही रहते थे। काव्य साहित्य मे आपको बडा प्रेम था। वे दार्शनिक भी थे और कवि भी। दोनो विरोधी धाराओ का उनमे स्पष्ट दर्शन होता था। उन्होने अनेक चरित्र-काव्यो, शिक्षा-काव्यो तथा ऐतिहासिक काव्यो का निर्माण किया था। लगभग ३० कृतियाँ उनकी आज भी उपलब्ध है। चित्रकाव्य के तो वे सफल निर्माता थे। सत-साहित्य मे आपकी रचनाओ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपकी लेखन-शैली भी बडी ही सुन्दर थी। आपके हाथ के लिखे हुए अनेक शास्त्र मिलते है। कहते है कि तेरह आगम आपको कण्ठस्थ थे।

मालवा, मेवाड, मेरवाड, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड, देहली तथा महाराष्ट्र आदि अनेक प्रातो मे विचर कर आपने धर्म-प्रचार किया था। वि० सं० १९८८ वैशाख शुक्ला १४ के दिन शुजालपुर (मालवा) मे आपका स्वर्गवास हुआ। इस समय आपका

आयु ५८ वर्ष की थी। आप समूचे स्थानकवासी समाज की एक दिव्य विभूति थे। अपने जीवन-काल मे आपने चतुर्विध संघ की शक्तिभर सेवा की थी। जिन-शासन के आप अनमोल रत्न थे। वे 'अमी' अर्थात् अमृत के भण्डार थे। शुद्ध संयम-पालन करना उनकी सबसे बडी विशेषता थी। उनका व्यक्तित्व बडा ही विशाल था। उदयपुर, सीतामऊ और उन्हेल आदि क्षेत्रो में आज भी लोग उनकी कविताओ के गुण गाते हैं।

हम पीछे बता आये हैं कि पूज्य श्री धनजी ऋषिजी महाराज श्री पृथ्वी ऋषिजी के गुरुभाई थे। पूज्य श्री धनजी ऋषिजी बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं। उनके अनेक शिष्यो मे परम पूज्य श्री अयवंता ऋषिजी का नाम प्रमुख रूप से आता है। आपके जन्म आदि के विषय मे विशेष सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है। इतना अवश्य है कि आप स्वाध्यायशील, उच्च तपोन्नत आराधक महामहिम संत थे। देश के अनेक प्रान्तो मे विचरण करके आपने भगवान् महावीर के पवित्र सन्देश को घर-घर पहुँचाया था। प्रतापगढ, भोपाल, देवास, मगरदा, आष्टा, और सीहोर आदि क्षेत्रो मे आपका विशेष भ्रमण हुआ है। वि स. १६२२ की आषाढशुक्ला नवमी को 'भेंसरोज' मे आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुवा। आपके सात शिष्य हुए हैं। उनमे कवि-कुल-भूषण श्री तिलोक ऋषि जी म० का नाम विशेष प्रसिद्ध है।

कविमूर्धन्य श्री तिलोक ऋषिजी महाराज

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १६०४ की चैत्र कृष्णा ३ रविवार के दिन रतलाम नगर मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री दुलीचन्द जी सुराणा और माता का नाम श्रीमती नानूबाई था। श्री दुलीचन्द जी की चार सन्तानें थी। तीन पुत्र और एक

पुत्री, पुत्री का नाम हीराबाई था। वि. सं. १९१४ मे पं श्री अयवता ऋषिजी रतलाम पधारे। आपके वैराग्यपूर्ण उपदेश को सुनकर माता श्री नानूबाई, तथा उनकी पुत्री हीराबाई को वैराग्य हो गया। उनके दीक्षा के विचार देखकर श्री तिलोक चन्द्र जी भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये। आपके बडे भाई श्री कुँवरमल जी को जब आपके सयम लेने की भावना का पता चला तो वे भी अपने छोटे भाई के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गए।

रतलाम के इतिहास मे वह वि सं. १९१४ माघ कृष्णा प्रतिपदा का दिन कितना महत्त्वपूर्ण था, जब एक परिवार के चार दीक्षार्थी संतशिरोमणि श्री अयवता ऋषिजी के चरणो मे दीक्षित हुए। श्री कुँवर ऋषिजी तथा श्री तिलोक ऋषिजी पूज्यपाद श्री अयवता ऋषिजी के शिष्य हुए। श्रीमती नानूबाई तथा श्री हीराबाई, तत्कालीन सतीशिरोमणि श्री दयाजी सरदारा जी म० की शिष्या बनी।

नवदीक्षित श्री तिलोकऋषिजी आरम्भ से ही बडे मेघावी थे। प्रथम वर्ष मे ही आपने दशवैकालिक सूत्र कण्ठस्थ कर लिया। दूसरे वर्ष मे सम्पूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र कण्ठस्थ कर लिया। अठारह वर्ष की उम्र मे आपने अनेक शास्त्रो का अध्ययन कर लिया। आपका भाषाज्ञान भी पूरी प्रगति पा चुका था। इन्ही दिनो वि. स. १९२२ मे आपके गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया।

इसके बाद आप स्वतन्त्र रूप से धर्म-प्रचार मे जुट पड़े। गुरुदेव के स्वर्गवास के बाद पहिला चातुर्मास आपने शुजालपुर मे किया। यहाँ से ज्यो-ज्यो आपके चातुर्मासो का क्रम बढता

गया त्यों-त्यो आपके धर्म-प्रचार का क्रम भी बढता चला गया। मालवा, मेवाड, मारवाड आदि अनेक प्राँन्तो मे आपके धर्म-उपदेश की गूँज रही है। दक्षिण प्रात मे तो आपका पचार सर्वाधिक सफल हुआ था। यहाँ के अनेक तारणपथी दिगम्बर वन्धुओं ने आपके उपदेशो से प्रभावित होकर शुद्ध साधु-मार्गी सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था। अनेक मुमुक्षुजनो ने आपके चरणो मे भागवती दीक्षा ग्रहण की थी। आपकी शिष्य-परम्परा मे अनेक विद्वान् संत हुए हैं। साध्वी-समाज की अभिवृद्धि मे भी आपका विशेष योग-दान रहा था। अनेक नारीरत्नो ने आपके उपदेशों से दीक्षा ग्रहण की थी। मन्दसौर, जीवागंज, कोटा, शुजालपुर और रतलाम आदि अनेक क्षेत्रो में आपने चातुर्मास किये थे। विक्रम सम्वत् १९२५ का चातुर्मास आपने जावरा मे किया था। इसके वाद घोडनदी, अहमदनगर, वाम्वेरी, पुन घोड़नदी मे आपका १९३९ का चातुर्मास हुवा। विक्रम सम्वत् १९४० का चातुर्मास करने के लिए आप अहमदनगर पधारे। यही पर श्रावण कृष्णा द्वितीया को आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। सारे जंन-समाज मे शोक की लहर दौडगई। पूज्यश्री हुक्मीचद जी म० की सम्प्रदाय के तत्कालीन पूज्यश्री उदय सागर जी म० ने रतलाम श्रीसघ के सन्मुख अपने विचार रखते हुए कहा था कि आज जैन समाज का सूर्य अस्त हो गया।

स्वर्गीय श्री तिलोक ऋषि जी म० सचमुच ही ज्ञान के सूर्य थे। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्यकला के तो आप कुशल कलाकार थे। आपकी कवित्व-शक्ति बडी ही विलक्षण थी। आपने अपने जीवन मे अनेक काव्यग्रन्थो का निर्माण किया था। प्रचार की दृष्टि से उनका समाज मे एक विशिष्ट स्थान है। स्थानकवासी समाज का बच्चा-बच्चा आज प्रात. सायं पाँच पदों

की वन्दना मे "कहत है तिलोकऋषि" इन शब्दों के साथ आपके पवित्र नाम का स्मरण करता है। आपके ज्ञानकुञ्जर और चित्रालकार काव्य आज के कवि-समाज के लिए विशेष आदर की वस्तु बने हुए है। लेखनकला मे भी आप बड़े ही कुशल थे। एक ही पन्ने पर दशवैकालिक सूत्र के दश अध्ययन लिखना और केवल डेढ इञ्च स्थान में सारी आनुपूर्वी अकित करना आपकी विशिष्ट लेखनप्रतिभा के द्योतक है, आपको १८ आगम कण्ठस्थ थे। नित्यप्रति उत्तराध्ययन सूत्र का स्वाध्याय करना तो आपका एक स्वाभाविक नियम बन गया था। आप आसुकवि थे। जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ वही आपने कविता बना दी। आपके अनेक काव्यो के अन्त मे अधिकतर काव्य निर्माण-स्थलो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। छत्तीस वर्ष की अवस्था मे आपका स्वर्गवास हुवा था। अपने जीवनकाल मे अनुमानत ७० हजार ग्रन्थो की रचना की थी। आपकी कुछ रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है, और कुछ अभीतक अप्रकाशित ही हैं। उनकी समस्त रचनाएँ जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

विक्रम सम्वत् १६२५ की बात है। कविचूडामणि जी श्री तिलोक ऋषिजी महाराज घोडनदी पधारे। पूज्य गुरुदेव के धर्मोपदेश आरम्भ हुए। जनता की भक्ति का ज्वार-भाटा उमड पडा। अनेक भव्य जीव सन्मार्गानुगामी हो गए। महाराज श्री के उपदेशो से प्रभावित होकर घोड़नदी-निवासी श्री गभीरमल जी लोढा की धर्मपत्नी तथा पुत्री ने दीक्षा लेने का दृढ सकल्प कर लिया। उन्ही दिनो मानक दौंडी (अहमद नगर) निवासी श्री स्वरूप चंद्रजी घोड़नदी मे ही निवास करते थे। उनकी स्त्री का देहान्त हो चुका था। केवल एक पुत्र ही उनके पास था। माता और पुत्री के दीक्षा-सकल्प ने इन पिता-पुत्र के हृदय को झकझोर दिया। वे

सम्यक्त्वी श्रावक थे। उनका पुत्र रत्नचन्द्र भी बडा होनहार था। पिता-पुत्र दोनो ने दृढ निश्चय के साथ अपना जीवन गुरुदेव श्री की सेवा मे अर्पित कर दिया। यह दीक्षा वि० स० १९३६ आषाढ शुक्ला नवमी को हुई थी। पिता का नाम श्री स्वरूप ऋषिजी म० रखा गया और पुत्र का नाम श्री रत्न ऋषिजी म० रखा गया। श्री रत्न ऋषिजी कविकुल-भूषण श्री तिलोक ऋषिजी की शिष्य-परम्परा मे एक प्रकाशमान नक्षत्र थे। ज्ञान और भक्ति दोनो की आप साक्षात् प्रतिमा थे।

शास्त्रोद्धारक श्री अमोलक ऋषिजी महाराज

जन्म और दीक्षा

मेडता (मारवाड़) निवासी कास्टियागोत्रीय ओसवाल श्री कस्तूर चन्दजी के पुत्र श्री केवलचन्दजी उन दिनो भोपाल मे रहा करते थे। आप मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। श्री केवलचंदजी की दूसरी पत्नी श्री हुलासाबाई की कुक्षि से वि० स० १९३४ में एक बालक का जन्म हुआ। माता पिता ने उसका नाम अमोलक चन्द्र रख दिया। अमोलक चन्द्र के एक छोटा भाई भी था। उसका नाम अमीचन्द्र था। कुछ दिनो बाद ही आपकी माता का देहान्त हो गया।

एकबार कविवर श्री तिलोकऋषिजी के सहोदर एव गुरु-भ्राता श्री कुँवर ऋषिजी भोपाल पधारे। उनके उपदेश से श्री केवल चन्द्रजी को वैराग्य हो गया। कुछ समय के बाद इन्होने पं० मुनि श्री पूनम ऋषिजी के करकमलो से दीक्षा ग्रहण कर ली। आपको स्थविर-पद-बिभूषित श्री सुखाऋषिजी का शिष्य बना दिया गया। उनके दोनो पुत्र अपने मामा जी के पास रहने

लगे। एक दिन अमोलक चन्द्रजी अपने पिताजी श्री केवल ऋषिजी के दर्शनों के लिए खेडी ग्राम से इच्छावर आये। श्री रत्न ऋषिजी म० तथा श्री केवल ऋषिजी म० उन दिनो इच्छावर मे विराजमान थे। पिताजी को त्यागमार्ग मे देख कर पुत्र का हृदय एकदम ससार से उदासीन हो गया। उन्होने दीक्षा लेने का दृढ निश्चय कर लिया। दोनो मुनिराजो ने खूब सोच-विचार कर आपको वि० स० १९४४ की फाल्गुण कृष्णा द्वितीया गुरुवार के दिन दीक्षित कर लिया। जब आपके परिवार के लोगों को पता चला तो उन्होने कानून का सहारा लेकर श्री अमोलकचन्द्रजी को वापिस घर ले आना चाहा। किन्तु न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि पुत्र यदि पिता के साथ रहना चाहता है तो उसे कोई भी कानून नही रोक सकता।

तीनो मुनि इच्छावर से भोपाल आये। यहाँ विराजित स्थविर-पद-विभूषित श्री खूबाऋषिजी ने नव दीक्षित मुनि को अपने शिष्य श्री चेना ऋषि के शिष्य पद पर नियुक्त कर दिया। मुनिजी का नाम श्री अमोलक ऋषिजी महाराज रख दिया गया। नव दीक्षित मुनिराज बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। पाँच वर्ष के लघु काल मे ही आपने सस्कृत, प्राकृत, काव्य साहित्य तथा आगमो का विशद ज्ञान प्राप्त कर लिया। आपकी भाषण-शैली बडी ही रोचक थी। सिद्धहस्तलेखक होने के साथ-साथ आप एक सफल कवि भी थे। आपकी कविता बडी प्रभावपूर्ण होती थी। आपका स्वभाव बड़ा ही नम्र था। श्री केवल ऋषिजी, श्री भैरव ऋषिजी तथा श्री रत्न ऋषिजी आदि मुनिराजो के साथ आपने भारत के अनेक प्रातो मे धर्म-प्रचार किया। अनेक भव्य प्राणियो ने आपसे साधु-धर्म तथा श्रावक धर्म के नियम स्वीकार किये थे। आपके मन मे शिष्य-लोलुपता नाममात्र भी नही थी। जब किसी को भी आप दीक्षा देते थे—बहुत सोच विचार कर देते थे। वि० सं० १९६० के

लगभग श्री रत्न ऋषिजी म० के साथ आप दक्षिण मे पधारे। इन्ही दिनो श्री केवल ऋषिजी भी इस प्रदेश में आ चुके थे। सं० १९६१ और १९६२ के चातुर्मास आपने क्रमशः बम्बई और इगतपुरी मे किये। यहाँ से विहार कर के वि० स० १९६२ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन आपने हैदराबाद मे प्रवेश किया। यहाँ अपने ससार पक्ष के पिताजी श्री केवल ऋषिजी की अस्वस्थता के कारण आपको नौ वर्ष तक ठहरना पडा। यहाँ तीन मुमुक्षुओं को आपने दीक्षा दी। (१) श्री देव ऋषिजी (२) श्री राज ऋषिजी (३) श्री उदय ऋषिजी। वहाँ से आप सिकन्दराबाद पधारे।

बत्तीस शास्त्रों का हिन्दी अनुवाद

यहाँ आपने एक ऐसा विलक्षण कार्य किया, जो आज तक कोई भी स्थानकवासी जैन सत नही कर पाया था। हम बत्तीस शास्त्रो को प्रामाणिक मानते है। सभी आगम प्राकृत-अर्धमागधी भाषा मे है। जन साधारण आगमज्ञान को आसानी से नही प्राप्त कर सकता था। आगमो के हिन्दी भाषानुवाद की अत्यन्त आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति श्री अमोलक ऋषिजी म० ने की। तीन वर्ष के लघु काल मे सात २ घण्टे नित्य प्रति अबाध रूप से आपने लेखन श्रम किया। इस पर भी सबसे बडी बात यह है कि अनुवाद काल मे आप सदा एकासन तपस्या करते रहे। उन दिनो सहायक सामग्री की बडी असुविधा रहती थी। आज तो वह असुविधा बहुत कुछ हल हो चुकी है। दृढ सकल्प के साथ किया हुआ कार्य कभी असफल नही होता। शास्त्रोद्धार का यह कार्य भी सानन्द सफल हो गया।

राजा बहादुर दानवीर सेठ सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसाद जी की भव्य उदारता के लस्वरूप सभी आगम प्रकाशित भी

हो गये और भारत के विभिन्न श्रीसंघो को विना मूल्य भेंट कर दिये गये। हैदराबाद, बैंगलोर तथा रायचूर आदि के अन्य अनेक दानवीरो ने जैन-साहित्य के प्रकाशन तथा प्रचार मे आप को पूरा-पूरा सहयोग दिया था। आपके साहित्य-निर्माण मे समाज को एक परिपूर्ण नई दिशा मिली थी। बत्तीस आगम-सहित अनुमानत· आपके द्वारा रचित अथवा अनूदित ग्रंथो की संख्या १०२ के लगभग है। इनमे जैनतत्त्वप्रकाश, परमात्म मार्गदर्शन, धर्मतत्त्वसग्रह, मुक्तिसोपान, अघोद्धार कथागार तथा ध्यानकल्पतरु आदि ग्रंथ वडे ही महत्त्वपूर्ण हैं।

पिछले कुछ वर्षो से ऋषिसम्प्रदाय मे आचार्य-पदपरम्परा वन्द सी थी। वि० सं० १९८९ मे इस विषय मे ऋषिसम्प्रदाय के साधु तथा साध्वियो ने इन्दौर मे विशेष प्रयत्न किया। परिणामतः वही पर ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार के दिन आपको सर्वगुण-सम्पन्न समझ कर आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया। आपकी व्यवस्था-शैली वडी ही उपयोगी होती थी।

मतभेद से आप सदा दूर रहते थे। जहाँतक होता था समीप आने का उनका विशेष प्रयत्न रहता था। अजमेर मे होने वाले बृहत्साधु-सम्मेलन मे किये गये आपके सत्प्रयत्न को कोई भी स्थानक वासी भूल नही सकता। मेवाड मारवाड आदि अनेक प्रान्तो के अतिरिक्त आप दिल्ली तथा पञ्जाब भी पधारे थे। दिल्ली चातुर्मास के बाद आप कोटा, बूँदी, रतलाम और इन्दौर आदि क्षेत्रो मे होते हुए धूलिया (खानदेश) पधारे। यही पर वि सं १९९३ के चातुर्मास मे भाद्रपद कृष्णा १४ के दिन समाधि-पूर्वक आपका स्वर्गवास हो गया। श्री मोहन ऋषिजो, श्री पन्ना ऋषिजो तथा श्री कल्याण ऋषिजो आदि आपके बारह शिष्य हुए हैं।

पूज्यश्री आनन्द ऋषिजी महाराज

चिचोंडी (अहमद नगर) मे श्रीमान् देवीचन्द जी गुगलिया श्रावक रहते थे। उनकी धर्म-पत्नी का नाम 'हुलास' बाई था। गुगलिया जी के दो पुत्र थे। (१) श्री उत्तमचन्द जी और (२) श्री नेमीचन्द जी। दूसरे पुत्र का जन्म वि स. १९५८ मे हुआ था। बचपन मे ही पितृ-वियोग होने के कारण पुत्र-पालन का सारा भार माताजी पर आ पडा था। वे बडी धार्मिक प्रवृत्ति की नारी-रत्न थी। पाँचो तिथियो मे उपवास तथा नित्य सामायिक का उनका दृढ नियम था। एक बार वि स. १९६६ मे श्री रत्नऋषि जी म० चिचोडी पधारे। माता की प्रेरणा से नेमीचन्द्र बालक उनके पास सामायिक प्रतिक्रमण सीखने जाने लगा। बालक की विलक्षण बुद्धि तथा प्रतिभा को देखकर गुरुदेव बड़े प्रभावित हुए। उन्होने अवसर देखकर एक दिन हुलासबाई के सन्मुख पुत्रदान का प्रसंग उपस्थित कर दिया। धर्म-श्रद्धालु होने के कारण माता उनकी मांग को अस्वीकार न कर सकी। प्रसन्नतापूर्वक माता ने अपने पुत्र को गुरुदेव श्री रत्नऋषि जी के चरणो मे समर्पित कर दिया।

गुरुदेव ने कुछ दिनो तक बालक नेमीचन्द्र को धार्मिक शिक्षण दिया और जब वह दीक्षाधारण के योग्य हो गया तो वि सं १९७० की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी रविवार के दिन मीरी ग्राम मे दीक्षाविधि सम्पन्न करदी गई। आपका दीक्षानाम श्री आनन्दऋषिजी रख दिया गया। इस समय आपकी अवस्था १३ वर्ष की थी।

दीक्षा लेने के बाद आपका विद्याध्ययन प्रारम्भ हुवा। बौद्धिक प्रतिभा के तो आप आरम्भ से ही धनी थे थोड़े ही समय मे आपने

प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, और गुजराती, महाराष्ट्री आदि भाषाओ पर समुचित अधिकार प्राप्त कर लिया। आपका कण्ठ बडा ही मधुर है। गायन-विद्या मे भी आप पूर्ण पारगत हैं। इस समय आप आगम-साहित्य का भी अध्ययन कर चुके थे। अब आपके व्याख्यानों मे एक अद्भुत चमत्कार आ चुका था। जो भी सुनता था वही मुग्ध हो जाता था। वि स १६७६ मे आवलकुटी ग्राम मे अपना चातुर्मास व्यतीत करके क्रमश आपने अहमदनगर, पाथर्डी, कलम और पुन अहदनगर मे चातुर्मास किये। वि. स. १६८१ मे गुरुदेव रत्नऋषि जी तथा शास्त्रोद्धारक श्री अमोलक ऋषिजी म० के साथ सम्मिलित चातुर्मास हुवा। इसके अनन्तर ज्यो-ज्यो आपके चातुर्मासो का क्रम बढता गया, त्यों-त्यो आपका धर्म-प्रचार, साहित्य-निर्माण तथा शिक्षा-प्रसार आदि सत्कार्यों की भी आशातीत वृद्धि होने लगी। आपके सदुपदेशो से अनेक भव्यप्राणी कल्याण-मार्ग के पथिक बने है। श्री तिलोकरत्न स्था. जैन धार्मिक परोक्षा बोर्ड का जो आज अखिल भारतीय रूप हमे दीख रहा है, यह सब आपके ही प्रयत्नो और उपदेशो का फल है। पहिले यहाँ पर एक छोटी सी पाठशाला चलती थी। इसकी स्थापना पूज्यपाद श्री रत्नऋषि जी म० ने की थी। युग प्रभावक श्री आनन्द ऋषिजी म० जैसे सतपुरुषो के सकेत से यहाँ धार्मिक परीक्षा बोर्ड की स्थापना हुई है। आज सारे स्थानकवासी समाज में इस बोर्ड का विशेष महत्त्व है। अब तक हजारो की संख्या मे छात्र-छात्राएँ इस बोर्ड की परोक्षा मे बैठ चुके है। गृहस्थो के अतिरिक्त त्यागी मुनिराज भी धार्मिक परीक्षाएँ देते है। बोर्ड अखिल भारतीय श्वे० स्था जैन कान्फ्रेस से मान्यता प्राप्त है। वि. सं. १६६३ मे इसको स्थापना हुई थी। तबसे अब तक यह निरन्तर प्रगति करता चला आ रहा है।

आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी के स्वर्गवास के बाद तपस्वी

श्री देवऋषिजी म० आचार्य पद पर नियुक्त हुए। उसी समय भुसावल मे आपको श्रीसंघ ने युवाचार्य पद पर स्थापित कर दिया। सदा से आप स्वभाव के बड़े मिलनसार रहे हैं। जो भी व्यक्ति एक बार आपका दर्शन कर लेता है, वह अत्यन्त भक्तिविभोर हो जाता है। वि स १९९९ मे आचार्य श्री देवऋषि जी के स्वर्गवास के बाद पाथर्डी मे माघ कृष्णा ६ को आप श्रीसंघ की आग्रहभरी प्रार्थना पर आचार्यपद पर विराजमान हो गये।

जब-जब समाज की ओर मे 'सघ ऐक्य' की योजनाएँ आपके सन्मुख रखी गई, आपने उनका अपने पूर्ण सहयोग से स्वागत किया। वि स० २००९ के चैत्र कृष्णा १ को ब्यावर मे नौ सम्प्र-दायो के सतो का एक सम्मेलन हुवा। इसमे पाँच सम्प्रदाएँ एक रूप मे सगठित हो गई। सभी मुनिराजो ने सघ ऐक्य के लिए अपनी पूर्व पदवियो का परित्याग कर दिया। आपने भी अपना आचार्य पद छोड दिया। श्रीसघ मे एकता की नई लहर दौड गई सैकड़ो वर्षों की अनेकता, एकता मे परिणत हो गई। यह सब आपके सफल नेतृत्व का ही फल था। सभी दूरदर्शी सतो ने इस नये सगठन मे आपको प्रधानाचार्य पद के लिए मनोनीत किया। वि सं २००९ के सादडी मुनिसम्मेलन तक आपने अपने उत्तरदायित्व को बडी ही योग्यता के साथ निभाया। पिछले ३९ वर्ष के मुनि-जीवन के इतिहास मे आपने जो जो अभूत-पूर्व शासन-प्रभावक कार्य किये हैं वे सब स्थानकवासी समाज के इति-हास मे अपना एक प्रमुख स्थान रखते हैं। आप जैसी दिव्य विभूतियां किसी भी समाज अथवा राष्ट्र को उसके महान् पुण्यो-दय से ही प्राप्त होती हैं। वर्तमान मे आप श्रमण सघ के आचार्य पद को अलंकृत कर रहे हैं।

पिछली पंक्तियो मे हमने जो ऋषि सम्प्रदाय के पाँच प्रमुख महापुरुषो का परिचय दिया है, उसके मध्य की कड़ियो मे अनेक दिव्य विभूतियाँ हुई है। उनमे ज्योतिर्विद् प० मुनि श्री दौलत ऋषिजी म० का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वर्तमान में उनके सुयोग्य शिष्य आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी म० तथा पं० मुनि श्री विनय ऋषिजी म० श्रमण सघ के विशिष्ट संतो मे माने जाते हे। इन विभूतियो ने मानव समाज पर असीम उपकार किये है। अत्यन्त विनम्र शब्दो मे श्रद्धा तथा कृतज्ञता पूर्वक इन सब के पुनीत चरणो मे अपना हार्दिक वन्दन करना हम अपना आवश्यकीय कर्त्तव्य समझते हैं।

पूज्यवर श्री धर्मसिंह जी महाराज की परम्परा

पूज्य श्री धर्मसिह जी महाराज अठारवीं शताब्दी के महान् युग स्रष्टा थे। आपका शास्त्रीय ज्ञान बडा ही विशाल था। साधु धर्म की साधना के प्रति वे बडे ही सचेत रहते थे। आगम-ज्ञान के सरलीकरण मे आपका जो महान् योग रहा है, उसमे धर्म-जिज्ञासु जनता का बडा ही उपकार हुआ है। आपके द्वारा लिखे हुए २६ शास्त्रो के टव्वे संक्षिप्त टिप्पणियाँ) इस बात के जीते जागते प्रमाण है। संक्षिप्त आगम टिप्पणियो के अतिरिक्त आपने और भी अनेक तात्त्विक ग्रंथ लिखे हैं। आपकी सम्प्रदाय दरिया-पुरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इस युग के क्रियोद्धारको में आपका नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। तत्कालीन शिथिलाचार के प्रति आपने जो सघर्ष छेडा था, उसने समूचे श्रमण-समाज को एक नवीन चेतना दी थी। 'काल प्रभाव' के नाम से जो शिथिलता पनप रही थी आपने अपने विशुद्ध साधुत्व के द्वारा उसे समूल नष्ट करने का सफल प्रयत्न किया था। आप

समस्त श्री जैन सघ के एक आदर्श तथा प्रकाशमान नक्षत्र थे। आपकी क्षमा, करुणा, समता और ज्ञान-गरिमा सर्वोत्कृष्ट थी। विरोध को शाति से समाप्त करना आपका विशेष गुण था। आपकी परम्परा मे अनेक विद्वान्, शास्त्रज्ञ तथा क्रिया-पात्र सत हुए हैं। पूज्यपदवी-क्रम के अनुसार आपके बाद क्रमश श्री सोम जी स्वामी, श्री मेघ जी, द्वारकादास जी, श्री मुरार जी, श्री नाथ जी, श्री जयचन्द जी और दूसरे मोरार जी स्वामी हुए हैं। मोरार जी के शिष्य श्री मुन्दर स्वामी के तीन शिष्य हुए। (१) नाथा जी (२) जीवन ऋषि जी (३) श्री प्राग जी ऋषि। ये तीनो ही महात्मा वडे भारी प्रभावक थे। गुरुदेव की उपस्थिति मे ही श्री मोरार जी का स्वर्गवास हो गया था। अत उनके वाद श्री नाथा ऋषि जी पाट पर विराजमान हुए। इनके बाद श्री जीवन ऋषि जी के हाथो मे गच्छ का उत्तरदायित्व आ गया।

पूज्यपाद श्री प्राग ऋषिजी महाराज

आप वीरम गाँव के निवासी थे। जाति मे भावसार थे। आपके पिता का नाम रणछोड़दास जी था। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग आपको श्री सुन्दरदास जी महाराज के सत्संग का लाभ प्राप्त हुआ। सुलभवोधि होने के कारण आपके जीवन पर श्री सुन्दरदास जी के धार्मिक प्रवचनो का आशातीत प्रभाव पड़ा। आपने उनसे श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर लिए। बहुत समय तक आपने शुद्ध श्रावक व्रतो का पालन किया। अत मे वि० स० १८३० में अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आप साधु हो गये। आपकी दीक्षा वडी धूम-धाम से हुई थी।

शास्त्र-अध्ययन के प्रति आपकी रुचि बहुत थी। इस लिए

थोड़े ही काल मे आपने अनेक शास्त्रो का अध्ययन कर लिया। पूज्य श्री जीवन ऋषिजी का स्वर्गवास हो जाने पर आपको आचार्यपद दे दिया गया। आप बड़े ही प्रभावशाली सत पुरुष थे। आपने धर्मप्रेमी श्रावको की प्रार्थना पर प्रातिज, ईडर बीजापुर और खरोलु आदि अनेक क्षेत्रो मे विचरण करके सत्य धर्म का प्रचार किया था। एक बार आप अहमदाबाद से ७ कोस दूर विसलपुर ग्राम के श्रावको का विनती पर वहाँ गये थे।

आपके समय में अहमदाबाद मे चैत्यवासियो का बडा जोर था। ये लोग शुद्ध साधुवो को बहुत ही परीसह देते थे। उन दिनो बहुत कम मुनिराज इधर पधारते थे, मुनिराजों की तो बात ही क्या है, जो कोई श्रावक भी शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करता था, चत्यवासी उसे अनेक प्रकार से तंग करते थे। ऐसी विकट स्थिति म पूज्य श्री प्रागजी स्वामी वहाँ पधारे। यहाँ सारंगपुर तलिया की पोल मे श्री गुलाबचन्द, हीराचन्दजो के मकान मे आप विराजमान हुए। आपका शुद्ध तथा सत्य उपदेश सुनकर गिरधर, शकर, पानाचन्द झवेरचन्द, रायचन्द झवेरचन्द और उनके परिवार वालो ने शुद्ध सम्यक्त्वव्रत धारण कर लिया। आपकी इस सफलता से वहाँ मन्दिरमार्गी लोग आपसे ईर्ष्या करने लगे। उन्हे ऐसा लगा कि यदि श्री प्रागजी कुछ काल यहाँ ठहर गये तो अनेक मन्दिरमार्गी भाई उनके सिद्धान्त के अनुयायी हो जायेगे। इसी विचार से उन्होने साधुमार्गी श्रावको से और साधुवो से झगड़ा करना आरम्भ कर दिया। यह झगडा बढते बढते कोर्ट तक पहुँच गया। साधुमार्गियो की ओर से पूज्य श्री रूपचन्द जो के शिष्य श्री जेठमल जी महाराज तथा विपक्षियो को ओर से श्री वीरविजय आदि मुनि कोर्ट मे आये। अतिम निर्णय साधुमार्गियो के पक्ष में हुआ। श्री जेठमल जो म० का 'समकितसार' नामक

ग्रन्थ पठनीय है। पूज्य श्री प्रागजी म० के समय इस सम्प्रदाय मे ७५ साधु और अनेक साध्वियाँ थी। सभी एक आम्नाय मे विचर कर धर्म-साधना करते थे।

पूज्य श्री प्रागजी महाराज का विक्रम सं० १८९० मे विसलपुर मे स्वर्गवास हुआ था। उनके बाद उनके पाट पर श्री शकर जी स्वामी, श्री खुशाल जी, श्री हर्षसिंह जी, और श्री मोरार जी हुए। इसके बाद इस परम्परा मे अनेक विद्वान् आचार्य हुए। उन्नीसवे पाट पर श्री मलूकचन्द्र जी म० बडे ही प्रभावक महापुरुष हुए। यह सम्प्रदाय २१ पाट तक व्यवस्थित रूप से चलती आई है। आदि से लेकर अंत तक इसमे कही पर भी विभाजन नही हुआ। वर्तमान मे इस सम्प्रदाय के श्री शान्तिलाल जी म० बडे ही सुन्दर व्याख्याता और दृढधर्मी व्यक्ति है।

क्रियोद्धारक श्री धर्मदासजी महाराज की परम्परा

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। पाँचो क्रियोद्धारको मे उनका शिष्य-परिवार सबसे विशाल था। अकेले श्री धर्मदास जी म० के ९९ शिष्य माने जाते हैं। शिष्यों का प्रतिशिष्य-परिवार इसमे पृथक् कितना विशाल होगा? यह तो पाठक स्वयं ही अनुमान लगा सकते है। उनके सभी शिष्यो तथा प्रतिशिष्यो का परिचय लिखना तो शक्य नही है। यहाँ केवल हम उनके मुख्य-मुख्य शिष्य और उनके परिवार का नाम-निर्देशपूर्वक संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेगे। हमसे जहाँ तक संभव हो सकेगा, शिष्यों-प्रतिशिष्यो की नाम-परम्परा के लिखने का पूरा प्रयत्न करेगे। फिर भी यदि प्रमादवश कोई नाम रहजाय तो हम पूर्णरूपेण क्षमाप्रार्थी हैं। प्राचीन काल मे हमारे साधुमार्गी समाज के साधु मुनिराजो मे लिखने-लिखाने की

परम्परा विलकुल नही के बराबर थी। सभी संतो का ध्यान आध्यात्मिक कल्याण की ओर रहता था। साहित्यिक इतिहास की अपेक्षा उनमे आत्मिक-इतिहास के निर्माण की विशेष लगन थी।

१ श्री मूलचन्द्र जी महाराज

पूज्य श्री धर्मदासजी म० के ६६ शिष्यो मे ३५ शिष्य तो संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। शेष शिष्य साधारण पाण्डित्य के साथ-साथ यथाशक्ति ज्ञान-ध्यान तथा तपस्या आदि मे संलग्न रहते थे। उन ३५ शिष्यो मे (१) श्री मूलचन्द्र जी (२) श्री धनजी (३) छोटे पृथ्वीराज जी (४) श्री मनोहरदास जी (५) और श्री रामचन्द्र जी ये पांच महात्मा मुख्य रूप से प्रसिद्ध हुए हैं। अधिकतर इन्ही के शिष्य-परिवारो से श्री धर्मदास जी के सम्प्रदाय की वृद्धि हुई। श्री मूलचन्द्र जी महाराज अपने समय के बडे ही प्रभावशाली मुनिराज थे। उनके सात शिष्य हुए हैं.—(१) श्री पंचाण जी (२) श्री गुलाब चन्द्र जी (३) श्री वनारसी जी (४) श्री इच्छा जी (५) श्री विट्ठल जी (६) श्री वना जी (७) श्री इन्द्रजी।

इन सातो मे से श्री पंचाण जी के दो शिष्य हुए –(१) श्री इच्छा जी म० (२) और श्री रतनशी जी महाराज। श्री इच्छा जी के पाट पर क्रमश श्री हीरा जी और छोटे कान जी महाराज विराजमान हुए।

श्री अजरामर जी स्वामी

आपका जन्म जामनगर के पास पडाणा ग्राम मे विक्रम सम्वत् १८०६ में हुआ था। आपने केवल दश वर्ष की अवस्था मे

श्री कान जी स्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी। आपकी धर्मशीला माता जी ने भी आपही के साथ दीक्षा ग्रहण करली थी। सूरत नगर के प्रसिद्ध यति श्री गुलाबचन्द्र जी के पास आपने दश वर्ष तक संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओ तथा आगम शास्त्रो का अध्ययन किया था। पूज्य श्री दौलतराम जी से आपने शास्त्रों के अनेक गहन अर्थों का रहस्य प्राप्त किया था। सत्ताइस वर्ष की अवस्था मे आप पूर्ण विद्वान् हो गए। विक्रम सम्वत् १८४१ मे आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। आप बड़े ही क्रियाशील, सत्य-प्रचारक सत पुरुष थे। जैन धर्म के प्रचार तथा प्रसार मे आप जीवनभर पूरी लगन के साथ जुटे रहे। आपका वर्चस्व बड़ा ही प्रभावशाली था। आपके पाट पर क्रमश श्री देव राज जी, भाणा जी, करमशी जी और श्री अविचल जी स्वामी विराजमान हुए। यही से 'लीबडी मोटी सम्प्रदाय' का उदय माना जाता है। श्री अविचल जी के शिष्य हरचन्द्र जी स्वामी मे 'लीबडी मोटी सम्प्रदाय' का निर्माण हुआ। श्री हरचन्द्र जी के पाट पर देव जी, गोविन्द जी, कान जी, नथु जी, दीपचन्द जी, लाधा जी, मेघराज जी, देवराज जी, लव जी, गुलाबचन्दजी और धन जी स्वामी हुए।

शतावधानी पं० श्री रत्नचन्द्र जी महाराज

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९३६ मे मोरार(कच्छ) मे हुआ था। आपका बचपन अत्यंत संस्कारित परिवारो मे बीता था। प्रथम पत्नी के स्वर्गवास होने के बाद परिवार के लोग आपका दूसरा विवाह करना चाहते थे। किन्तु श्री गुलाबचन्द जी स्वामी के सत्संग से आपका मन विषय-भोगो से उदासीन हो गया। आपने बड़े ही उग्र परिणामो से दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरुदेव श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज ने बड़ी ही लगन के साथ आपको विद्या-

ध्ययन कराया। थोड़े ही दिनो मे आप संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हो गए। प्राकृत भाषा के तो आप अनुपम विद्वान् थे। समस्त जैन आगमो का मंथन करके आपने "अर्ध-मागधी कोष" का निर्माण करके शास्त्रीय अध्ययन को अत्यंत सुगम बना दिया है। जैन सिद्धान्त कौमुदी, कर्तव्य कौमुदी भावनाशतक तथा सृष्टिवाद और ईश्वर आदि ग्रंथ आपकी अमूल्य रचनाएँ हैं। आप भारत-प्रसिद्ध शतावधानी थे। जयपुर में आपको अवधान प्रयोग के समय 'भारत-रत्न' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। आप प्राणपण से संगठन के प्रेमी थे। घाटकोपर मे निर्मित 'वीरसंघ' योजना मे आपका पूर्ण सहयोग था। आपका स्वर्गवास भी घाटकोपर मे ही हुआ था। आपकी स्मृति मे समाज ने अनेक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की।

श्री अविचल जी स्वामी के दूसरे शिष्य श्री हीमचन्द्र जी से "लींम्बडी छोटी सम्प्रदाय" का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय मे गोपाल जी, मोहनलाल जी, मणिलाल जी और केशवलाल जी म० हुए।

श्री पंचाण जी के दूसरे शिष्य श्री रतनशी जी, डूंगरशी स्वामी, रव जी, मेघ जी आदि से लेकर आठवे पाट पर देव जी म० स्वामी हुवे श्री देवजी म० के दो शिष्य हुए —

(१) जयचन्द्र जी (२) जादव जी। जयचन्द्र जी के शिष्य प्राण लाल जी म० हुए और जादव जी के शिष्य पुरुषोत्तम जी महाराज हुए। यह सम्प्रदाय-'गोंडल सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्री गुलाबचन्द्र जी म० की सम्प्रदाय मे वाल जी, नाग जी, मूल जी, देवचन्द्र जी, मेघराज जी और पूज्य संघ जी महाराज - यह "सायला सम्प्रदाय" की परम्परा है।

बनारसीजी की 'चूड़ा सम्प्रदाय" और इच्छा जी की "उदयपुर सम्प्रदाय" कहलाई। इन सम्प्रदायो मे आजकल कोई साधु नही है।

श्री विट्ठल जी मे 'धागध्रा सम्प्रदाय का उदय हुआ। इसमे मूखण जी, और वशराम जी हुए। इनके शिष्य श्री जसाजी बोटाद पधारे। यही से बोटाद सम्प्रदाय चली। इस सम्प्रदाय मे अमरचन्द जी और माणकचन्द्र जी हुए।

श्री बना जी की बरवाला सम्प्रदाय कहलाई। इसमे पुरुषोत्तम जी से लेकर श्री मोहनलालजी तक सात पाट-क्रम हुए हैं।

विक्रम सम्वत् १७७२ में पूज्य श्री धर्मदास जी के शिष्य मूलचन्द्रजी और उनके शिष्य इन्द्रजी स्वामी प्रथम बार कच्छ मे पधारे। कच्छ मे पहिले एकल पात्रिया श्रावको का अधिक जोर था। इस प्रात मे एकल पात्रिया साधुवो का अधिक प्रचार के कारण आठ कोटि के त्याग प्रत्याख्यान की अधिक प्रवृत्ति थी।

पूज्य श्री सोमचन्द्र जी महाराज

श्री इन्द्र जी की परम्परा मे भगवान्जी, सोमजी, करसनजी, देवकरणजो और डाह्यानो हुए। इनमे श्री सोमजी का नाम अधिक प्रसिद्ध है। ये पूज्य धर्मसिहजी के टब्बो के तत्त्वार्थ ज्ञाता मुनिराज थे। इनकी श्रद्धा भी आठ कोटि प्रत्याख्यान मे थी। १७८६ मे आपने दीक्षा ग्रहण की थी। आपके पास कच्छ के महाराव श्री लखपत जी के कामदार श्री थोमणजी पारख तथा बलदीयग्राम के श्री कृष्णजी और उनकी माता मृगाबाई ने विक्रम सं० १८१६ में भुजग्राम मे दीक्षा ली थी। १८३१ मे देवकरणजी ने दीक्षा ली। वि० सं० १८४२ मे श्री डाह्याजी ने संयम ग्रहण किया।

श्री देवजी की सम्प्रदाय 'आठ कोटि बडा पक्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमे रगजी, केशवजी आदि से लेकर श्री कृष्णजी महाराज तक दश पाटक्रम हुए। डाह्याजी के दूसरे शिष्य जसराज जी मे 'आठ कोटि छोटा पक्ष' सघाडे का आरम्भ हुआ। इसमें

नथुजी, हंसराजजी, वृजपालजी, डूंगरशी, शामजी और श्री लालजी स्वामी हुए हैं। यहाँ तक का क्रम पूज्य धर्मदास जी के शिष्य श्री मूलचद्रजी म० की परम्परा का है।

आचार्य श्री भूधरजी महाराज

आपने मारवाड़ नागौर के मुणोत खानदान मे सम्वत् १७०८ आसोज शुक्ला दशमी को (विजयादशमी के दिन) माणकचन्द जी के घर पर जन्म लिया। माता का नाम श्री रूपादेवीजी था। बाल्यकाल में माता-पिता काल कर गये। आप बचपन से ही, बड़े वीर, साहसिक और युद्ध-कला मे निपुण थे। जिससे जोधपुर महाराज के फौजी अफसर नियुक्त हुए। वहा से आपका स्थानान्तर सोजत कर दिया गया। क्योंकि उस समय सोजत के आस-पास डाकुओ का बडा जोर-शोर था। इसी कारण बडे बड़े सरदारो के साथ भी उनका मेल था। श्री भूधर जी ने अपनी वीरता से सरदारो को भी दबाया, और डाकुओ का जोर-शोर भी कम कर दिया।

आपका विवाह सोजत मे रातडिया मूथा के यहां हुआ था। आपके तीन लडके और २ लडकियां हुई। सम्वत् १७५१ का जिक्र है। (८४) ऊटों से डाकुओ ने कंटालिया नामक गांव पर धावा बोल दिया। कटालिया ठाकुर श्री चूरसिंह जी कुम्पावत के आमंत्रण पर फौज लेकर-सहायता के लिए पहुंचे डाकू लोग युद्ध में परास्त होकर भाग गये। श्री भूधरजी ने उनका पीछा किया। भिंग्यारी के पास काजलचास के निकट फिर जमकर सामना किया। उसमें बहुत के डाकू मारे गये। रहे सहे को पकड लिया। उस युद्ध मे एक डाकू के द्वारा आपके सवारी के ऊँट पर तलवार का वार हुआ। जिससे ऊँट की गरदन लटकने लगी। ऊँट ने तडपते हुए प्राण को छोड दिया। इसमें आपको बड़ी भारी ग्लानि उत्पन्न हुई और आपके वैराग्य का मुख्य कारण यही बना। आपने

वापस लौटकर फौजी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया और पोथियावन्द धर्म में दीक्षित हो गये। घूमते हुए मालवे मे पहुँचे। वहा आचार्य श्री धन्नाजी म० के पास सम्वत् १७५३ माघ शुक्ला तृतीया के दिन दीक्षित हो गये। उसी दिन से आप पाच पाच उपवास का पारणा करने लगे और पाचो विगय का त्याग किया। लेप और मिश्रण का आगार था।

आप श्री आतापना भी खूब लेते थे। एक समय का जिक्र है कि आनन्दपुर कालू के नदी मे आप आतापना ले रहे थे। उस समय रामा पडिहार जाट ने आपके मस्तक पर जेई (कुल्हाडी) की मार दी, काटो की पाई पर पैर पकड कर घसीटा, यह दृश्य पुरोहित रामसुखजी ने देखा और हल्ला करने पर वह भाग गया। क्षमा-श्रमण आचार्यश्री ने उसे कुछ भी नही कहा। जब उसे पकड कर जेल मे डाल दिया। तब यह खबर मिलते ही, आचार्यश्री ने फरमाया कि उस भाई को जब तक जेल से मुक्त नही करेंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नही करूँगा। गाव के हवलदार ने उसे छोडकर आचार्य श्री जी के पास लाये। तब वह पैरो मे पडकर रोने लगा। उस समय आचार्य श्री जी ने कहा, तुम मद्य और मास का त्याग करो, धर्म की श्रद्धा करो, सब आनन्द होगा। आप श्री के द्वारा दिल्ली के शाहजादा के प्राण बचे। आपके जीवन मे सामाजिक कई घटनायें घटी। यहाँ संक्षिप्त वृत्तान्त दिया गया। आपके नव-शिष्य थे। श्री नारायण-जी स्वामी, श्री रूपचन्दजी, श्री गोरधनजी, श्री जगरूपजी, श्री रतनचन्दजी, श्री रघुनाथजी, श्री जेतसीजी, श्री जयमल जी, श्री कुशलोजी हुए। जिनमे से चार शिष्य अत्यन्त ही प्रतिष्ठा-सम्पन्न हुए। इस सम्बन्ध मे प्राचीन दोहा इस प्रकार है—

धन रघुपति धन जेतसी, धन जयमल, कुशलेश ॥
चारो शिष्य भूधर तणा, चावा देश विदेश ॥

आप आचार्य श्री सम्वत् १८०३ के आसोज शुक्ला, विजया १० के

दिन पांच उपवास के पारणे, वीर-स्तुति का स्वाध्याय करते हुए मेड़ता मे स्वर्गवासी हुए। आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज

संवत् १७६६ माघ शुक्ला वसन्त पंचमी के दिन सोजत के हाकिम शाह नथमलजी वलावत की धर्मपत्नी श्री सोमादेवी के कुक्षी से श्री रघुनाथ जी का जन्म हुआ। आप ऊर्ध्व-रेषा आदि शुभ-लक्षणो से सयुक्त गौरवर्णी रूप मम्पन्न सुन्दर आकृति वाले थे। आप मंस्कृत, फारसी के अच्छे विद्वान् थे। १७ वष की अवस्था मे आपको सोजत को हुकूमत मिली। एक दिन अपने मित्र की अकस्मात् मृत्यु सुनने पर मृत्यु से भयभीत हो चामुण्डा देवी के सन्मुख सिर चढाकर अमर होने की भावना से निकले। जिससे सारे परिवार वाले तथा ससुराल वालो (आपका सवध सोजत में ही शाह कुन्दनमलजो वेदमुथा की सुपुत्री श्री रत्न-कुंवर बाई के साथ हो चुका था) ने रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किये। परन्तु वे सफल न हो सके। रास्ते मे पुण्योदय से आचार्य श्री भूघरजी महाराज का सयोग मिला। तीन दिन तक चर्चा होने से अन्ध-श्रद्धा को छोड़कर सम्यक् तत्त्वो के उपासक बने। आप दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए। किन्तु अपने परिवार का अत्यन्त आग्रह होने से चार वर्ष तक विरक्तावस्था मे घर पर ही रहना पड़ा। फिर भडारी खीवसीजो के द्वारा बडी घूम-धाम से संवत् १७८७ जेष्ठ कृष्णा द्वितीया बुघवार के दिन आचार्य श्री भूधर जी म० के पास दीक्षा सम्पन्न हुई। आपश्री ने दीक्षा ग्रहण करते ही पांच २ दिन की तपश्चर्या करके पारणा करने का यावज्जीवन पर्यन्त नियम लिया। पारणे के दिन चार विगयो का त्याग भी कर लिया। आपने अपने जीवन मे चालू तपस्या के उपरान्त १५ दिन की तपस्या, एक मास, दो मास आदि तपस्याये अनेक वार की। आपकी वक्तृत्व-शक्ति सराहनीय थी। आप क्रियापात्र एवं महान् विद्वान् थे। आप श्री ने ३२ आगमो

की हुण्डियो का निर्माण किया। आप चर्चावादी भी उच्चकोटि के थे। वेदानुयायियो, पोथियावन्द और मन्दिरमार्गियों से चर्चा करके अनेक बार विजय प्राप्त की थी। पोथियावन्द पन्थ का तो आपश्री के द्वारा उन्मूलन ही हो गया। आपका जोवन वृत्तान्त बड़ा ही विशाल है। वह मरुधर केशरी जी म० द्वारा स्वतन्त्र वना हुआ है। ३२ सूत्रो की हुण्डिया भी जोधपुर, सोजत, सादडी, पाली व जयतारण के भडारो मे हस्तलिखित प्रतियाँ प्रस्तुत हैं। यतियो के साथ चर्चा करके मेडता मे विजय प्राप्त की, उस समय का अम्बालाल सेवक का बनाया हुआ एक दोहा प्रचलित है।

जति धर्म जातो रह्यो थानक लागा टाठ।
उपामरे आडा जडिया पडिया रह गया पाट॥१॥

आपके धर्म प्रचार मे सात सौ गाव आये हैं। जिनमें मेडता, जालोर, सादडी, पाली, जयतारण' समदडी जोजावर, फिलाज, व सिरियारी का घाट, देवगढ और श्रीजी नाथद्वारा, आदि स्थानो पर अपने अत्यन्त कष्ट एवं भयंकर उपसर्ग सहन किये।

आपके हाथो से साधु-साध्वियो की सैकडो दीक्षाये हुई। आपका विहार पजाब, जमनापार गुजरात, सौराष्ट्र आदि मे रहा। आपकी ससार पक्ष की धर्मपत्नी श्री रत्न कुवर देवी ने भी दीक्षा ली थी, और उनको ५२ शिष्याये हुई। आचार्य श्री जी ने ६० वर्ष तक सयम पालन किया। संवत् १८०४ के चैत्र शुक्ला ५ के शुभ दिन मे आपको आचार्य पद मिला। और सम्वत् १८४६ माघ शुक्ला एकादशी के दिन १७ दिन का संथारा करके पाली मे स्वर्गवासी हुए।

पूज्य श्री रघुनाथजी म० के शिष्य भीषण जी भी कटालिया निवासी शा० बलूजी संकलेचा के पुत्र और टेकचन्द जी के कनिष्ठ भ्राता संवत् १८०८ में हुए। सम्वत १८१६ चैत्र शुक्ल ६ शुक्रवार को बगडी में जिनाज्ञा विरुद्ध श्रद्धावान् देखकर इन्हे संघ से पृथक् कर दिया।

मरूधरकेशरी श्री मिश्रीमल जी म०

पूज्य श्री रघुनाथजी म०, पूज्य श्री टोडरमलजी म०, स्वामी श्री इन्दरराजजी म०, तपस्वी श्री भूपनराजजी म० आचार्य श्री गिरधरलालजी म०, स्वामी जी श्री धरमचन्दजी म०, स्वामीजी श्री मानमलजी म०, स्वामी श्री बुधमलजी म०, के शिष्य प० रत्न भूतपूर्व मन्त्री मुनि श्री मिश्रीमल जी म० (मरुधर केशरी जी म०) ठाणे ५ मे विचर रहे है। आप साहित्य, सस्कृत प्राकृत व न्याय आदि के विद्वान् है। आपकी कविताएं गद्य एव पद्य मे ग्रंथाग्रंथ, लाख के लगभग हैं। जिसमे मुख्यत: महाभारत ४ खण्डों में, लगभग २२ बडो २ चतुष्पदियां हैं। और एक विविध विषयो पर खण्ड काव्य है। आप राजस्थान मे एक आशु कवि हैं। व्याख्यान आपका प्राभाविक है। आपका मुख्यत- गुण स्पष्ट वक्ता है। इसमे कई लोग विनोदवश कडक मिश्री के नाम से पुकारते हैं आपका चारों सम्मेलनो मे मुख्यत हाथ रहा है। आप संगठन के प्रबल समर्थक हैं। आपके उपदेशो मे अनेक सस्थाएं भी सुचारु रूप से चल रही है। श्री लोंकाशाह जैन गुरुकुल सादडी, सोजत, श्री जिनेन्द्रज्ञान मंदिर सिरियारी आदि २ स्थानो पर संस्थाएं है।

आचार्य श्री चौथमल जी म०

आप आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज के प्रपौत्र शिष्य है। सम्वत् १८१३ मार्ग शीर्ष कृष्ण ७ को विवाह के बिनौले खाते हुए वैराग्य उत्पन्न होने से आपने दीक्षा ली। आपका जन्म मेडता के पास भंवाल नामक ग्राम मे हुआ। वहा श्री कुंदनमलजी भामर के सुपुत्र श्री चुन्नी बाई के अ गजात थे। आपके मुख्य शिष्य दो, श्री सन्तोकचन्दजी म० और श्री हिम्मतरामजी म०, श्री अमरचन्दजी महाराज श्री लादुराम जी म० के शिष्य श्री शार्दूल सिंहजी थे। श्री चौथमल जी म० ने १८७० को अपना अलग संघाडा स्थापित किया था। आप महान् कवि थे। आपने करीब चौरासी

छोटे बडे ग्रंथ बनाये हैं। आपका व्याख्यान सुन्दर था। आचार्य श्री रघुनाथ जी म० के कृपापात्र थे। आपका स्वर्गवास संवत् १८७६ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी के दिन पीपाड में हुआ।

आचार्य श्री जयमल जी म०

आप मारवाड मे उदावतो की लाम्बिया ग्राम के निवासी थे। आपके पिता श्री मोहनदास जी समदडिया मुथा और माता का नाम महिमा देवी था। आपके बडे भाई का नाम रोडमलजी था। आपका विवाह कावलिया नामक ग्राम के जेतूजी कोठारी के यहा हुआ था। आपकी धर्मपत्नी लाभकल देवी थी।

आपका जन्म संवत् १७६५ भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन हुआ था। आप बड़े तेजस्वी होनहार पुरुप थे। आप व्यापार के निमित्त कार्तिक शुक्ला १५ के रोज मेडता मे आये वहां पर पूज्य श्री भूधर जी म० का चातुर्मास था। और आपके आदर्श शिष्य श्री रघुनाथ जी म० के १२८ उपवास का पूर था। जिससे बाजार का कारोवार बन्द होने के कारण जयमल जी व्याख्यान श्रवणार्थ वहा आये। सुदर्शन सेठ की शील विषय से परिपूरित कथा को श्रवण कर के वैराग्य रग से रजित हो गये। आज्ञा प्राप्त करने के लिए मिगसर वदो १ को बडे जोर शोर से मतभेद रहा। आखिर सायंकाल को आज्ञा प्राप्त की। एक ही प्रहर मे प्रतिक्रमण कठस्थ कर मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया सवत् १७८० मे श्री रघुनाथ जी म० का पारणा होने के पश्चात् दीक्षा सम्पन्न हुई। आपने कई वर्षों तक एकान्तर तप किया। ५२ वर्षों तक आडा आसन करके सोये नही। बीकानेर, भदाणी, डेह, नागौर खीवसर, फलोदी, आदि क्षेत्रो मे धर्मप्रचार करते हुए महान कष्ट उठाये।

आप राजस्थान भापा के प्रखर कवि थें। राजा परदेशी चरित्र, चार मंगल, बडी साधु वन्दना, जयमल-बावनी, आदि

आपने लगभग २४ हजार ग्र थाग्र थ निर्माण किया। आपकी बहुत सी कविताएँ जयवाणी मे प्रकाशित हो चुकी है। आपको १३ शिष्य हुए।

आचार्य श्री जयमल जी का स्वर्गवास विक्रम सम्वत् १८५२ वैशाख शुक्ला नरसिंह चतुर्दशी के दिन नागोर मे एक मास का संथारापूर्वक हुआ था। आपके बाद आपके पद पर श्री रायचन्द जी म० विराजमान हुए। आप अपने समय के प्रसिद्ध कवि और व्याख्याता थे। आपके अनेक रचनाएं, श्री जयमल भण्डार पीपाड मे आज भी उपलब्ध हैं। श्री जयमल जी म० की परम्परा मे आपके बाद अनेक प्रभावक तपोव्रती विद्वान् मुनिराज हुए है। इस परम्परा में अनेक लेखक, कवि विद्वान सत हुए हैं। श्री रावतमल जी म० और प० मिश्रीमल जी म० "मधुकर" तथा श्री प० जीतमल जी म० पं० श्री लालचन्द जी म० इसी सम्प्रदाय के उदीयमान नक्षत्र है।

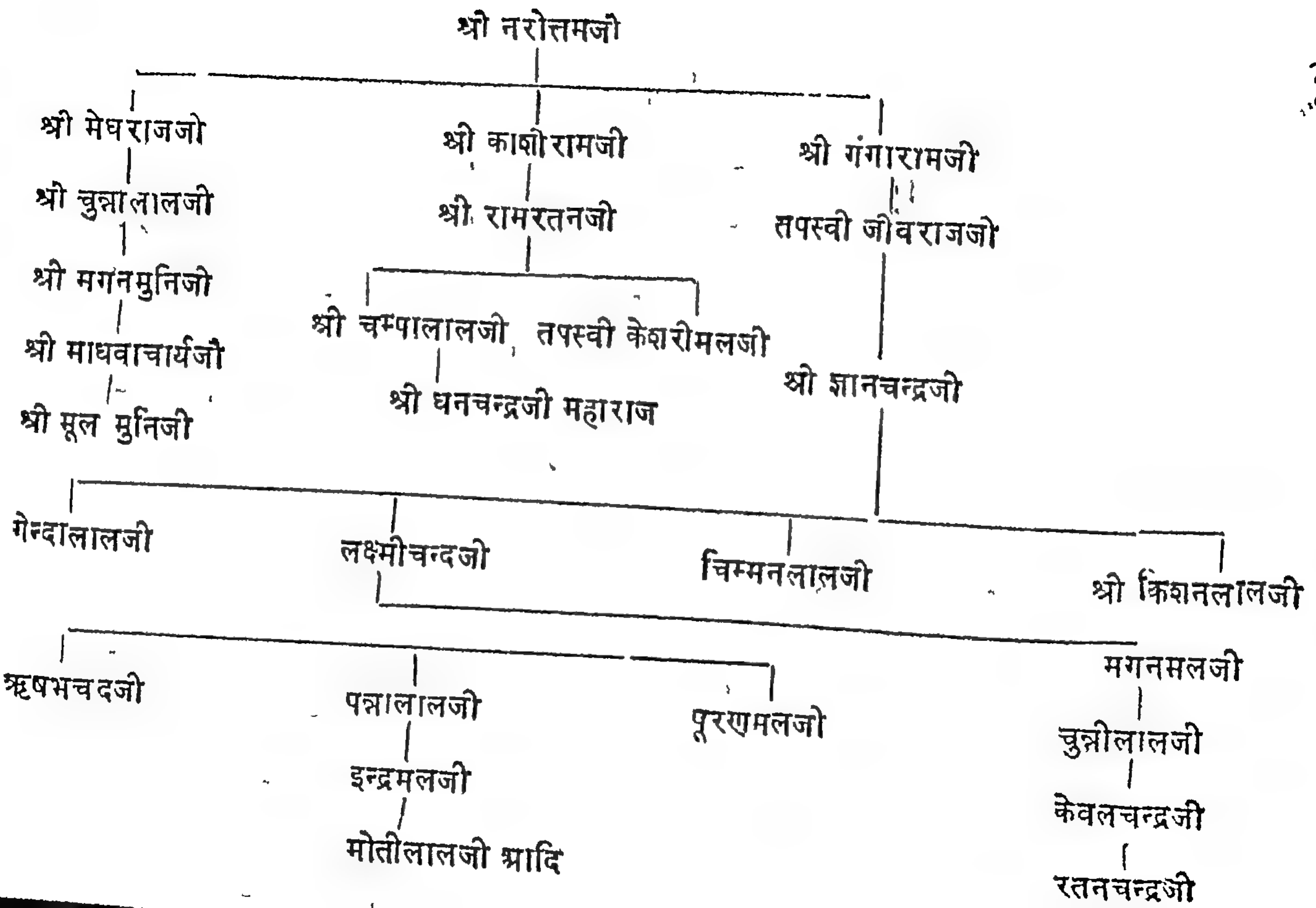
आचार्य श्री कुशलो जी म०

आपका जन्म पीपाड के पास सेठ जी की रियां में हुआ था। आपका गोत्र चगेरी था, आपके पिता का नाम भोपजी और माता का नाम घापीबाई था। आपका जन्म सम्वत् १७६७ चैत्र कृष्णा तृतीया को हुआ था। आपने सम्वत् १७९४ फाल्गुण सुदी ७ के दिन बिलाडे मे पूज्य श्री भूधर जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की थी। आपके अनेक शिष्य हुए हैं। उनमे श्री दापोजी श्री तेजोजी आदि नव शिष्यों के नाम प्रमुख रूप मे मिलते हैं। आपकी पट्ट परम्परा मे श्री आचार्य जी, श्री गुमानचन्द जी, श्री रतन-चन्द जी, श्री हमीरमल जी, श्री कजोडीमल जी, श्री विनयचन्द्र जी और श्री शोभाचन्द्र जी म० अपने समय के वड़े प्रभावक पुरुष हुए हैं आपके पद पर पं० रत्न उपाध्याय श्री हस्तीमल जी म० वर्तमान मे प्रसिद्ध है।

उपाध्याय श्री हस्तीमल जी महाराज

आपका जन्म सं० १९६७ मे हुआ। आपके दीक्षागुरु श्री शोभाचन्द्र जी महाराज थे। आप सस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओ के विद्वान् है। आपकी संयम-साधना बडी कठिन है। आगम साहित्य के तो आप उद्‌भट विद्वान् हैं। आप सदा शास्त्रीय दृष्टि से चलने के समर्थक है। अपनी सयम-क्रिया मे सदा व्यस्त रहते है। आप समय के बड़े पाबन्द है। जिस समय के लिए जो काम निश्चत है उस समय वही काम करते है। 'काले कालं समायरे' का अमर उद्‌घोष आपके जीवन का आदर्श है। इन्ही सब विशेषताओ के कारण मात्र बीस वर्ष की अवस्था मे वि० स० १९८७ मे आपको आचार्य पद मे विभूषित कर दिया गया। आप आगम शोधन के भी बडे प्रेमी है। आपने श्री नन्दी-सूत्र का हिन्दी अनुवाद भी किया है। आप प्रभावशाली वक्ता, लेखक और विशुद्ध साहित्यकार हैं। स्वाध्यायसंघ और सामायिकसघ आपकी प्रमुख धार्मिक योजनाएँ है। सादडी सम्मेलन मे सभी संप्रदायो ने अपनी-अपनी पदवियो का परित्याग किया, उस समय आपने भी अपनी पूज्य पदवी का त्याग कर दिया। श्रमण संघ की व्यवस्था मे प्रारम्भ से ही आपका बहुमोल सहयोग रहा है। प्रारम्भ मे आप श्री इस संघ के सह मन्त्री थे। वर्तमान मे सघ के उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित है। संघ-ऐक्य के आप सदैव समर्थक रहे हैं।

श्री रामचन्द्र जी म० की परम्परा मे श्री चिमनीरामजी, और श्री नरोत्तम जी म० हुए। ये अपने समय के बड़े ही तपस्वी ज्ञानी ध्यानी पुरुष हुए है। इनकी परम्परा इस प्रकार है:—


श्री नरोत्तमजी
श्री मेघराजजी
श्री चुन्नालालजी
श्री मगनमुनिजी
श्री माधवाचार्यजी
श्री मूल मुनिजी
श्री काशीरामजी
श्री रामरतनजी
श्री चम्पालालजी
तपस्वी केशरीमलजी
श्री धनचन्द्रजी महाराज
श्री गंगारामजी
तपस्वी जीवराजजी
श्री ज्ञानचन्द्रजी
गेन्दालालजी
लक्ष्मीचन्दजी
चिम्मनलालजी
श्री किशनलालजी
ऋषभचन्दजी
पन्नालालजी
इन्द्रमलजी
मोतीलालजी आदि
पूरणमलजी
मगनमलजी
चुन्नीलालजी
केवलचन्द्रजी
रतनचन्द्रजी

परम्परा-वादी मुनिराज श्री समर्थमल जी महाराज इसी नरोत्तम जी की परम्परा के संत है। आपका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा ही विशाल है। शास्त्रो के गहन अध्येता होने पर भी आप मे अभिमान नही है। आप प्राचीनतावाद मे विशेष विश्वास रखते है। यह सम्प्रदाय आज कल आपके नाम से ही प्रसिद्ध है।

यहाँ तक का क्रम पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य श्री धन्ना जी की परम्परा का है।

३ श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के तीसरे शिष्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी म० बड़े ही प्रभावशाली महात्मा हुए है। इनके शिष्य श्री रामचन्द्र जी म० सर्वप्रथम मेवाड मे पधारे थे। इसी कारण इनकी सम्प्रदाय 'मेवाड सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इनकी परम्परा मे पूज्य श्री रोड़ादास जी म० बड़े ही शासन-प्रभावक हुए हैं। ये देवपुर के निवासी लोढागोत्रीय थे। १८२४ विक्रमार्क मे आपकी दीक्षा मानी जाता है। एक मास में दो अठाई करने का आपका नियम था। आपने अपने जीवन मे ४३ मास-खमण और १५ कर्मचूर तप किये। बेले-बेले की तपस्या आपकी सदा चलती थी। आप प्रसिद्ध अभिग्रहधारी संत हुए हैं। आपने उदयपुर में एक बार हाथी का और दूसरी बार सांड का अभिग्रह किया था। इनमे से पहला ३ दिन मे तथा दूसरा ४१ दिन मे सफल हुआ था। विक्रम सम्वत् १८६१ फाल्गुन कृष्णा ८ के दिन आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। आपके बाद श्री नृसिंह जी महाराज हुए। इनके पिता का नाम गुमानचन्द और माता का नाम गुमानबाई था। ये रायपुर के निवासी थे। अपनी सुन्दर पत्नी को

छोड़कर आपने वि० स० १८५२ मार्गशीर्ष कृष्णा ६ को दीक्षा ग्रहण करली। आप राणा भीमसिंह जी के समय में हुए है। आपके २७ शिष्य थे। सात सूत्र आपको कण्ठस्थ थे। वि० सं० १९०३ मे उदयपुर मे आपका स्वर्गवास हुआ था। इनके पाट पर श्री मानमल जी आये। ये देवगढ के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम श्री तिलोकचन्द्र और माता का नाम धन्नाबाई था। इनका जन्म वि० स० १८६३ मे माना जाता है। ये गांधीगोत्रीय थे। वि० स० १८७२ में आपने केवल नौ वर्ष की अवस्था मे आचार्य नृसिंह जी के पास दीक्षा ली थी।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज

आप सांगेसरानिवासी सहलोत गोत्री श्री शिवलाल जी के पुत्र थे। आपकी माता का नाम सुरताबाई था। वि० स० १९१७ ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या के दिन आपका जन्म हुआ था। वि सं० १९४७ फागुण शु० १ मंगलवार के दिन आपने अकोला शहर मे दीक्षा ली थी। वि० सं० १९६९ ज्येष्ठ शु० ५ के दिन रासमी ग्राम मे आपको आचार्य पद मिला। विक्रम सम्वत् ९८७ श्रावण शु० ३ के दिन ऊठाला (वल्लभ नगर) मे आपका स्वर्गवास हुआ। आप मेवाड़ के परम त्यागी तथा तपस्वी महात्मा थे। आपकी जीवन-चर्या समस्त मुनिराजो के लिए आदर्श थी। आपके ६ प्रमुख शिष्य हुए हैं। उनमे श्री मोतीलाल जी महाराज का नाम विशेष रूप से आता है। आप वल्लभ नगर निवासी साभर गोत्रीय श्री धूलचन्द्र जी के पुत्र थे। आपकी माता का नाम जड़ावबाई था। आपका जन्म १९४३ मे तथा दीक्षा १९६० मार्गशीर्ष शु० ७ के दिन सनवाड़ मे श्री एकलिंगदास जी महाराज के चरणो मे हुई थी। वि० सं० १९९३ ज्येष्ठ शु० २ शुक्रवार के दिन सरदार

गढ मे आपको आचार्य पद से विभूषित किया गया। आपने अपने जीवन के लगभग पचास वर्ष तक भारत के सैकडो छोटे-बडे क्षेत्रो में धर्म-प्रचार किया था। अंतिम दिनों मे आप देलवाडा मे पाँच वर्ष से स्थविरवास मे थे। यही पर आपका ईस्वी सन् १६५८ अगस्त की २६ तारीख को संध्या के ६ बजकर ४५ मिनट पर स्वर्गवास हो गया। सचमुच ही आप समूचे जैन समाज के एक अनमोल मोती थे। वर्तमान मे आपके प्रसिद्ध शिष्य श्री अम्बालाल जी महाराज बड़े ही दीर्घ द्रष्टा मुनिराज हैं। आपके पिताजी श्री किशोरीलाल जी तथा माता जी श्री प्यारबाई थी। आप 'थामला ग्राम' के ओसवाल वंश के है। वि० स० १६६२ ज्येष्ठ शु० ३ को आपका जन्म हुआ था। वि० स० १६८१ मार्गशीर्ष कृष्णा ७ के दिन मगरवाड में आपकी दीक्षा हुई थी। इस समय आप ५६ वर्ष के है। श्री मदन मुनिजी जैन सिद्धान्ताचार्य श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' तथा श्री मगन मुनिजी आपके शिष्य है। आपकी सम्प्रदाय को मेवाड़ सम्प्रदाय अथवा एकलिंगदास जी की सम्प्रदाय भी कहते हैं।

४ पूज्यश्री मनोहरदास जी महाराज

पूज्य श्री धर्मदास जी की पट्टावलियो मे श्री मनोहरदास जी महाराज श्री धर्मदास जी के शिष्य माने गये हैं। किन्तु मनोहर सम्प्रदाय के मुनिराज उन्हे स्वतंत्र क्रियोद्धारक मानते है। आप नागौर के सुप्रसिद्ध ओसवाल जाति के सुराणा वंश के अमूल्य रत्न थे। आपका परिवार सब प्रकार से सम्पन्न था। पहिले आप नागौरी लोकागच्छ के प्रसिद्ध यति श्री सदारग जी के पास दीक्षित हुए थे। बाद मे पूज्य श्री धर्मदास जी आदि क्रियोद्धारको के प्रभाव से आप अत्यंत आकर्षित हुए। आपके जीवन मे एक दम

परिवर्तन आ गया। यति-परम्परा से पृथक् होकर आप शुद्ध साधु-परम्परा मे दीक्षित हो गए। नागौर की यह अमर ज्योति सारे भारत में फैल गई।

पूज्य श्री मनोहरदास जी महाराज अपने युग के एक महान् तत्त्वज्ञ विचारक, एवं पवित्र क्रिया-काण्डी मुनिराज थे। ज्ञान तथा क्रिया, आचार और विचार दोनो मे ही आप अनुपम आदर्श थे आपके शिष्य-परिवार का प्रचार अन्य प्रातो के साथ-साथ यमुना पार के क्षेत्रो मे अधिक हुआ था। आपके अनेक शिष्य हुए हैं। उनमें श्री भागचन्द्र जी का नाम विशेष रूप मे आता है। उत्तर-प्रदेश मे बडौत, बिनोली, और कांधला आदि क्षेत्रो का उद्धार आपके उपदेशों से हो हुआ था। आपके शिष्य आचार्य श्री सीता राम जी म० हुए। आप भी अपने गुरुदेव के समान ही दृढ सयमी तथा धर्मप्रचारक मुनिराज थे इनके शिष्य श्री आचार्य शिव रामदास जी म० हुए। ये देहली के श्रीमाल थे। आपके अनेक शिष्य हुए। उनमे श्री देवकरण जी, श्री रामकृष्ण जी, पूज्य श्री नूनकरण जा और तपस्वी श्री हरजो मल जी का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। श्री लूणकरण जी महाराज ने वि० स० १८३५ मार्गशीर्ष कृष्णा १० के दिन पूज्य श्री शिवरामदास जी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। आप आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है —

१—आचार्य लूणकरण जी म० २--पूज्य श्री रामसुख जी म०
३--तपस्वी श्री ख्यालीराम जी म० ४--पूज्य श्री मंगलसेन जी म०

पूज्य श्री मंगलसेनजी म० के बाद यह सम्प्रदाय दो भागो मे बट गई। एक भाग मे पूज्य श्री रघुनाथ जी म० तथा उनके शिष्य ज्ञान चन्द्र जी, प्रशिष्य खुशालचन्द्र जी हुए। दूसरे भाग के आचार्य

श्रीमो तोराम जो हुए। इनके बाद आचार्य पृथ्वीचन्द्र जी हुए। इनके दो शिष्य है। (१) कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म० (२) सेवाभावो श्री अमोलकचन्द्र जो महाराज। कवि श्री जो के श्री विजय मुनि जो तथा श्री सुरेश मुनि जो ये दो शिष्य-रत्न है।

महामहिम श्री रत्नचन्द्र जी म०

आपका जन्म राजस्थान के जयपुर राज्यान्तर्गत 'तातीजा' नामक ग्राम के गुर्जर(राजपूत) परिवार मे हुआ था। वि० स० १९५० भाद्र मास की कृष्णा चतुर्दशी आपकी जन्म-तिथि मानी जाती है। आपके पिता का नाम गगाराम और माता का नाम सरूपाबाई था। माता-पिता के सस्कारो के कारण बचपन से ही आप सत्सग प्रिय थे। विद्याध्ययन मे आपकी अत्यत अभिरुचि था। आप एक असाधारण बालक थे। एक दिन आपने जगल मे एक सिह को गोवत्स पर आक्रमण करते देखा। सिह ने क्षण के क्षण मे गोवत्स को मार गिराया। यह भयानक दृश्य देखते ही आपकी आँखो के सामने ससार की नश्वरता का सजीव चित्र घूमने लगा। अब आपको वैराग्य हो गया। आप गुरु की खोज मे निकल पड़े और एक दिन नारनौल मे परम तपस्वी श्री हरजी मलजी म० जैसे ज्ञानी गुरु आपको मिल गये। माता-पिता की अनुमति मिल जाने पर वि० स १९६९ के भाद्र शुक्ला ६ शुक्रवार के दिन आपने दीक्षा स्वीकार कर ली। अब आपका अध्ययन आरभ हुआ। थोड़े ही दिनो मे आप स्वमत तथा परमत के प्रकाण्ड पण्डित हो गये। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश आदि भाषाओ का भी आपने प्रचुर ज्ञान प्राप्त कर लिया। आपका व्यक्तित्व बडा ही प्रभावशाली था। आप जहाँ-जहाँ भी गये आपके धर्म-प्रचारो की धूम मच गई। यमुनापार के क्षेत्रो का निर्माण

आपके ही उपदेशो से हुआ था। आपकी अध्यापन शैली भी वडी आकर्पक थी। पंजाव के आचार्य अमरसिंह जी, महाकवि चन्द्र भान जी, श्री आत्माराम जी (जो वाद मे मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में विजयानन्द सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) आदि अनेक संतो तथा श्रावको ने आपके चरणों मे बैठकर ज्ञानाभ्यास किया था। आप स्वर शास्त्र के भी अद्भुत ज्ञानी थे। आप सुन्दर लेखक भी थे। श्री लूणकरण जी के वाद आचार्य तुलसी के पाट पर आपकी इच्छा न होते हुए भी आपको आचार्य स्वीकार कर लिया गया। साहित्य के क्षेत्र मे भी आपकी प्रगति प्रशसनीय रही है। आपने छोटे-वड़े अनेक ग्रंथो का निर्माण किया था। आपका कविताएँ भी प्राप्त होती हैं। वि० सं० १६२१ वैशाख शुक्ला द्वादशी बुधवार के दिन लोहामण्डी आगरा मे आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। आपकी शिष्यपरम्परा मे अनेक विद्वान् तपोव्रती संत हुए हैं। आपकी परम्परा इस प्रकार है —

श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्रजी म० के दो शिष्य १ श्री कँवरसेनजी २. श्री विनयचद्रजी। श्री कँवरसेनजी के शिष्य १. श्री श्यामसुखजी २. श्री ऋषिराजजी। श्री ऋषिराजजी के भी दो शिष्य हुये। १. श्री प्यारेलालजी २. श्री श्यामलालजी। श्री श्यामलालजी म० के तीन शिष्य हुए। १. श्री प्रेमचन्दजी, २ श्रीचन्द्रजी ३. श्री हेमचन्दजी म०। श्री प्रेमचन्द्रजी म० के १. श्री कस्तूर-चन्दजी २. श्री कीर्तिचन्द्रजी और श्री उमेशचन्द्रजी म० ये तीन शिष्य हुये। श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्रजी म० के द्वितीय शिष्य श्री विनयचन्द्रजी म० के तीन शिष्य, १ श्री चतुरभुजजी, २ श्री चेतनरामजी ३. श्री भरत मुनिजी। श्री भरत मुनि जी म० के १. श्री सुखानन्दजी २. श्री लालचन्द्रजी और, ३. श्री जयसीरामजी म ये तीन शिष्य थे। श्री लालचन्द्रजी म०के १ श्री विमल प्रसादजी २ श्री भजनलालजी और ३. श्री विनय मुनिजी ये तीन शिष्य हुए।

पूज्य श्री मनोहरदास जी की सम्प्रदाय ने समाज को अनेक प्रसिद्ध वक्ता, प्रचारक, विद्वान्, कवि, लेखक तथा त्यागी वैरागी मुनिराज दिये है।

प्रवर्त्तक श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज

आपने पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के पास विक्रम सम्वत् १९५६ मे दीक्षाव्रत स्वीकार किया था। आप बडे ही सरल स्वभावी, शान्तमुद्रा सत हैं। आगम-शास्त्रो का आपने विशेष परिशीलन किया है। ज्ञान तथा क्रिया दोनो का आपके जीवन मे महान् सगम है। सयुक्त प्रात की जनता आपके तप त्याग और पाण्डित्य से विशेष प्रभावित है। आप अपने योग्य गुरु के योग्य शिष्य हैं। शिष्यत्व और गुरुत्व दोनो के ही आप अनुपम आदर्श है। अभिमान तो आपको छू तक नही गया है। विनय और विवेक की आप साकार मूर्ति है। आपके सद्गुणो के कारण ही विक्रम सम्वत् १९८३ मे नारनौल मे आपको समस्त श्री संघ ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। सादडी सम्मेलन मे श्रमण संघ के सगटन के लिए आपने आचार्य पद का त्याग कर दिया। आपने समाज मे फैलीहुई अनेक बुराइयो का सुधार किया है। वर्त्तमान मे आप श्री श्रमण-संघ के प्रवर्त्तक पद पर प्रतिष्ठित हैं।

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी महाराज

आप श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के प्रधान शिष्य है। आगम साहित्य के आप उच्च कोटि के विद्वान् हैं। आप दार्शनिक संतो की श्रेणी के महान् संत हैं। स्वभाव के बडे ही सरल हैं। आपकी प्रवचन-शैली बडी ही आकर्षक है। साहित्यिकक्षेत्र मे आपने समाज को एक अभूतपूर्व नई दिशा दी है। स्थानकवासी जैन विचार

धारा के संत होते हुए भी आपके विचार पूर्ण रूप से असाम्प्रदायिक है। श्रमण संघ के निर्माण मे आप का विशेष योग रहा है, संप्रति इस संघ के आप उपाध्याय पद पर विराजमान हैं। आप प्रसिद्ध लेखक, कवि एव प्रवक्ता हैं। आपका साहित्य व ा ही मननीय होता है। आपकी कविताएँ उच्च कोटि की होती हैं। नवीन और प्राचीन को साथ-साथ लेकर चलना आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। आपका शिष्य-परिवार भी साहित्यिक क्षेत्र मे आपके चरण चिह्नों पर चलने का प्रयत्न कर रहा है।

५ पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज

पूज्य श्री धर्मदास जी की परम्परा मे श्री रामचन्द्र जी महाराज का एक विशेष स्थान है। आप धारा नगरी के प्रसिद्ध गोसाईं जी के शिष्य थे। आपको गोसाईं जी ने बड़े प्रयत्न के साथ संस्कृत आदि भाषाओं का अध्ययन कराया था। एक बार पूज्य श्री धर्मदास जी म० धारा नगरी पधारे। आपका उपदेश सुनकर श्री रामचन्द्र जी को वैराग्य हो गया। आपको गोसाईं जी ने बहुत समझाया। अपनी गद्दी के ऐश्वर्य का प्रलोभन भी दिया, पर आपके ऊपर उनका कोई प्रभाव नहीं पडा। आप अपने दीक्षा-ग्रहण करने के निश्चय पर पूरी तरह से अटल रहे। अंत मे गोसाईं जी से आपको दीक्षा की आज्ञा मिल गई। वि० सं० १७५४ मे आपने दीक्षा ग्रहण कर ली। इस समय आपकी आयु २० वर्ष की थी। दीक्षित होकर आगम साहित्य का गहन अध्ययन किया। पूर्ण विद्वान् होने पर आप धर्म-प्रचार मे लग गए। वि० सं० १७८८ में आप उज्जैन पधारे। यहाँ पेशवा सरकार की माता जी ने आपसे अनेक कठिन श्लोकों का अर्थ पूछा। आपने उन्हें बडी ही सीधी सरल भाषा मे अर्थ समझा दिया। माता जी आप पर बडी प्रसन्न हुई। वे आपको कुछ भेट देना चाहती थीं, पर

निग्र थ नियम के कारण आपने लेने मे इन्कार कर दिया। आपको अपने जीवन काल मे अनेक अन्य मतावलम्बियो से संघर्ष करना पडा था। विजय हमेशा आपके ही हाथ मे रही। तत्कालीन महाराजा सिंधिया को आपके प्रति विशेष श्रद्धाभक्ति थी। आपका समस्त जीवन तप-त्याग और वैराग्य का आदर्श था। मालवा प्रांत मे आपका विशेष प्रचार रहा था। इसी कारण आपकी शाखा को लोग 'मालवा शाखा' के नाम से पुकारने लगे। आप अपने समय के एक महान् युग-स्रष्टा महापुरुष थे। वि० सं० १८०३ मे आपका स्वर्गवास माना जाता है। आप एक युग-प्रधान आचार्य थे। आपके बाद पूज्य माणकचन्द्र जी, श्री जीवराज जी, पृथ्वी चन्द्र जी, बड़े अमरचन्द्र जी, केशव जी और श्री मोकमसिंह जी हुए। पूज्य मोकमसिंह जी म० एक दीर्घजीवी सत हुए हैं। आपका जन्म वि० स १८६६ माह शु० ५ मघा नक्षत्र मे हुआ था। आपने वि० स १८६० मार्गशीर्ष कृष्णा ६ के दिन भागवती दीक्षा ग्रहण की थी। आपका स्वर्गवास वि० सं० १९६१ चैत्र शु० ६ के दिन रात्रि के ग्यारह बजकर दश मिनट पर हुआ माना जाता है। आप बडे ही चमत्कारी सत थे।

पूज्य श्री मोकमसिंह जी के स्वर्गवास के बाद श्री नन्दलाल जी, श्री छोटे अमरचन्द्र जी, चम्पालाल जी और श्री माधवमुनि जी महाराज हुए।

आचार्य श्री माधव मुनि जी महाराज

आप स्थानकवासी श्रमण समाज की एक विरल विभूति थे। ज्ञान के आप अनुपम भण्डार थे। आप अपने युग के त्यागी वर्ग के प्रतिनिधि कवि थे। शास्त्रार्थ-कला में आपकी विशेष प्रसिद्धि थी। प्रतिपक्षी लोग आपके नाम से ही कांपा करते थे। स्वभाव

दे। आप बडे ही विनोदप्रिय थे। आपका पाण्डित्य असाधारण था। आपके विषय मे एक अनुश्रुति है कि एक बार आप आगरे मे भगवती सूत्र का व्याखान दे रहे थे। व्याखान मे स्थानीय एक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित जी भी बैठे थे। पण्डित जी को अपने पाण्डित्य का बडा घमण्ड था। वे जैनियो को नास्तिक कहकर उनकी निन्दा किया करते थे। व्याख्यान सुनते २ वे महाराज श्री जी से शास्त्र का नाम पूछ बैठे। 'भगवती' नाम सुन कर पण्डित जी बोले–महाराज! आपका भगवती कन्या और हमारा भागवत वर दोनो का सम्बन्ध बडा ही अच्छा रहेगा। कुशाग्र बुद्धि श्री माधव मुनिजी ने तुरत ही उत्तर दिया–पण्डितजी! सम्बन्ध से तो हमे कोई इन्कार नही है। पर हमारी 'भगवती' तो बडी सुशीला है और आपका भागवत नपुंसक है। भला नपुंसक को कौन कन्या देगा? सस्कृत मे भागवत शब्द नपुंसक लिंग मे होता है। पण्डित जी उत्तर सुनकर चुप हो गए।

आचार्य श्री माधव मुनि जी साधुक्रिया मे बड़े ही दृढ थे। उस समय यह कहावत आम प्रसिद्ध थी कि—सौ साधो और एक माधो। आपकी भावपूर्ण कविताएँ आज भी जैन समाज मे बड़ी श्रद्धा के साथ पढी जाती हैं।

आचार्य श्री माधव मुनि जी म० के बाद श्री ताराचन्द्र जी का नाम आता है। आपने वि० स० १९४६ मे दीक्षा ग्रहण की थी। आप बडे ही सरलात्मा सत थे। प्रसिद्ध सत श्री किशनलाल जी महाराज आपके ही शिष्यरत्न थे।

प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमल जी महाराज

आप श्री किशनलाल जी महाराज के शिष्यरत्न हैं। आपका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा ही विशाल है। आपकी प्रवचन-शैली बड़ी ही

मनोहर है । श्रमण-सगठन के आप प्रबल समर्थक है। आपने अपने उपदेशो से अनेक शिक्षण-संस्थाओ को जन्म दिया है। साहित्य सेवा मे भी आपकी विशेष अभिरुचि है। आपकी अनेक पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं। मालव प्रान्त पर आपका विशेष प्रभाव है। स्वर्गीय शतावधानी प० केवलचन्द्र जी महाराज आपके ही शिष्य थे। जो कि वि० स० २०११ मे रेल के आघात के कारण दुर्घटना के शिकार हो गये।

कविवर्य श्री सूर्यमुनि जी महाराज भी इसी सम्प्रदाय के रत्न हैं। आप बडे ही सरल स्वभावी मुनिराज हैं। प्राचीन शास्त्रो मे आपको विशेष प्रेम है। कवि होने के साथ-साथ आप कुशल प्रवक्ता भी हैं। सप्रति आप श्रमण सघ के प्रवर्तको मे है।

यहाँ आकर पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज की परम्परा का सक्षिप्त परिचय समाप्त होता है। इस परिचय मे हमने यथा-शक्य सभी सम्प्रदायो का उल्लेख करने का प्रयत्न किया है। फिर भी प्रमादवश किसी का रह जाना संभव है। एतदर्थ हम तत्सम्प्र-दायो अनुयायिवर्ग से क्षमा प्रार्थी है।

पूज्य श्री हरजी ऋषिजी की परम्परा

'स्थानकवासी' आध्यात्मिक परम्परा का समाज है। 'चैतन्य वाद' उसका मुख्य विषय है। आत्मा, महात्मा और परमात्मा की त्रिवेणी का यह अद्भुत सगम है। सदा से यह समाज 'अचेतन बाद' के विरुद्ध सघर्ष करता चला आया है। भूतकाल की अनेक शताब्दियो मे इसने 'आत्म-उद्धार' के अनेक अनुपम कार्य किये हैं। शुद्ध व्यवहार और शुद्ध आचार इस पवित्र सस्था का सर्वप्रथम लक्ष्य रहा है। यह आरम्भ से ही विश्वकल्याण को

भावना लेकर चला है, और आज तक अविरल गति से चला आ रहा है। इसने अपने जीवन में अनेक क्रांतियाँ देखी हैं। अनेक उत्थान पतन के चक्रो मे पार होता हुआ यह वर्तमान तक पहुँचा है। इसके अनुभव अपार है। साधुता के नाम पर होने वाले शिथिलाचार का इसने सदा ही विरोध किया है। यह महावीर भगवान् के धर्मवीरो का सेना का मुख्य केन्द्र है। अनेक संकट आने पर भी इसने अपने कर्तव्य को पूरी दृढता के साथ निभाया है। पूज्य श्री हरजी ऋषिजी महाराज इसी पवित्र समाज के एक प्रसिद्ध क्रियोद्धारक महापुरुष हुए है। उनकी परम्परा मे अनेको महापुरुष हुए हैं। जिन का पूरा विवरण उपलब्ध नही हो पाया है। जिन महात्माओ का परिचय मिल सका है उसे ही यहाँ देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्द्र जी महाराज

कोटा सम्प्रदाय के विषय मे सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ का मत है कि यह सम्प्रदाय ऋषिसम्प्रदाय के महा प्रभावक पूज्य श्री सोमजी म० के आज्ञानुवर्त्ती श्री परशराम जी महाराज मे निकला है। श्री परशराम जी, श्री केशव जी यति-गच्छ से पृथक् होकर पुन. दीक्षित हुए थे। शुद्धसयम लेने के वाद वे पूज्य श्री सोमजी म० की आज्ञा मे विचरने लगे थे। वाद मे उनके तीन शिष्य हुए। (१) श्री खेतसी जी (२) श्री खेमसी जी (३) श्री लोक मल जी महाराज। वि० स० १८१० को वैशाख शु० ५ मंगलवार को पंचेवर ग्राम मे जो चार सम्प्रदायो का सम्मेलन हुआ था, उसमे पूज्य श्री परशराम जी की परम्परा मे से श्री खेतसी जी म० तथा श्री खेमसी जी म० उपस्थित थे। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले मुनिराजो ने अनेक वोलो की मर्यादाएँ निर्धारित की थी। अनुशासन की दृष्टि से यह सम्मेलन वड़ा ही सफल रहा

था। संयम मार्ग मे शिथिल साधुवो से इस सम्मेलन मे सभी सम्भोग अलग कर लिए गये थे। साधु मुनिराजो के अतिरिक्त इसमे साध्वी-समुदाय भी उपस्थित था। साध्वियो मे महा सती श्री केशर जी महाराज का नाम विशेष रूप से आता है।

प्राचीन परम्परा के इतिहास मे श्री लोकमल जी और खेतसी जी को अलग अलग सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है। श्री लोकमल जी के बाद उनके पाट पर श्री मयाराम जी तथा उनके बाद श्री दौलतराम जी हुए। श्री दौलतराम जी के श्री गोविंदराम जी और श्री लालचन्दजी म० ये दो शिष्य हुए।

दोनो की परम्पराएँ

श्री गोविन्दराम जी म०	श्री लालचन्द्र जी म०
श्री फतेचन्द्र जी म०	पूज्य श्री हुक्मीचन्द्र जी म०
श्री ज्ञानचन्द्र जी म०	पूज्य श्री शिवलाल जी म०
श्री छगनलाल जी म	पूज्य श्री उदयसागर जी म०
श्री रोडमल जी म०	पूज्य श्री चौथमल जी म०
श्री प्रेमराज जी म०	(पूज्य श्री चौथमलजी म०
तपस्वी श्री गणेशीलालजी म०	के बाद इस सम्प्रदाय मे दो
श्री मिश्रीलालजी म०	पूज्य हुये—)
पूज्य श्री श्रीलालजी म०	पूज्य श्री मन्नालालजी म०

पूज्य श्री हुक्मीचन्द्र जी म० को दीक्षा कोटा सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मुनिराज श्री लालचन्द्र जी म० के चरणो मे विक्रम सम्वत् १८७९ मे हुई थी। आपकी संयम-भावना बड़ी ही तीव्र थी। शुद्ध तथा कठोर सयम पालन की ओर आपका विशेष ध्यान था। इक्कीस वर्ष तक आप निरन्तर वेले वेले की तपस्या करते रहे थे। रसनाइन्द्रिय पर आपका विशेष नियन्त्रण था। आयु

भर के लिए आपने सभी मिठाई तथा तली हुई चीजो का त्याग कर दिया था। चाहे गर्मी हो, चाहे कडकडाती सर्दी हो, अधिकतर आप एक ही चद्दर में रहते थे। प्रति दिन दो हजार 'नमुत्थुण' पढने का आपका दृढ नियम था। आपके अक्षर वडे ही सुन्दर थे। शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ कर के आप सत मुनिराजो को दान दिया करते थे। आपके हाथ की लिखी हुई १६ शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ आज भी विद्यमान है। आपका स्वर्गवास मध्यभारत के जावद नामक ग्राम मे हुआ था। आपके स्वगवास के वाद आपके पद पर आचार्य श्री शिवलाल जी महाराज आये। आप सोलह वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। इसके बाद पूज्य श्री उदयसागर जी महाराज आचार्य हुए। आपका जन्म जोधपुर मे हुआ था। विक्रम सम्वत् १८६७ मे आपने दीक्षा ली थी। आचार्य पद पर आने के वाद अनेक वर्षो तक आपने धर्म-प्रचार किया था। अत मे श्री चौथमल जी महाराज को अपना उत्तराधिकार सौप कर वि० स० १६५४ में आप स्वर्गवासी हो गए।

श्री चौथमल जी म० केवल तीन वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। आपका स्वर्गवास १६५७ मे माना जाता है। आप बड़े ही क्रिया-कठोर सत थे। पूज्य श्री उदयसागर जी म० सदा सतो के सन्मुख आपकी उत्कृष्ट क्रिया का उदाहरण रखा करते थे। आपके स्वर्गवास के वाद सम्प्रदाय दो भागो मे विभक्त हो गई। एक भाग के आचार्य श्री श्रीलाल जी म० हुए और दूसरे भाग का पूज्य पद श्री मन्नालाल जी म० को प्राप्त हुआ।

आचार्य श्री श्रीलाल जी के संगठन मे उनके बाद श्रीमज्जैनाचार्य श्री जवाहर लाल जी म० हुए।

श्री जवाहिराचार्य

आपका जन्म थांदला शहर मे हुआ था। माता-पिता का बचपन मे ही स्वर्गवास हो जाने के कारण आपका पालन-पोषण मामा के यहाँ हुआ था। आप विशुद्ध बाल ब्रह्मचारी थे। सोलह वर्ष की अवस्था मे आपने संयम व्रत स्वीकार किया था। जैन शास्त्रो के आप प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपके व्याख्यान बड़े ही तर्क पूर्ण होते थे। 'सूत्र कृतांग' पर लिखी हुई आपकी हिन्दी टीका आधुनिक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि मानी जाती है। लोक मान्य तिलक, महात्मा गांधी, सरदार बल्लभभाई पटेल, पण्डित मदनमोहन मालवीय और कवि श्री नानालाल जी जैसे राष्ट्र के प्रमुख नेताओ ने आपके प्रवचनो से लाभ लिया था। सचमुच आप जैन जगत के सच्चे जवाहर थे। महात्मा गांधीजी ने एकबार ठीक ही कहा था कि —भारत मे दो जवाहर है। एक राजनीति का जवाहर और दूसरा धर्म नीति का जवाहर। आपके प्रवचन बडे ही मार्मिक होते थे।

मारवाड़ के थली प्रांत मे अनेक परीषह सहन करके आपने जिनवाणी का प्रचार किया था। तेरह पंथी सम्प्रदाय के 'भ्रम विध्वंसन' ग्रंथका आपने सद्धर्म मण्डन' ग्रंथ बनाकर समुचित उत्तर दिया। तेरह पंथी लोग दान दया का विरोध करते हैं। उनकी अनुकम्पा ढालो का आपने मारवाड़ की लोक भाषा मे ढाले रचकर भोली जनता को भ्रम मे फसने से बचाया। आपका वर्चस्व बडा ही प्रभावशाली था। आप श्रमण समाज का सुदृढ संगठन करना चाहते थे। इसके लिए आपने अनेक प्रयत्न भी किये। आपके अनेक शिष्यो मे श्री गणेशीलालजी म. श्रीघासीलाल जी म व श्री मलजी म के नाम प्रमुख हैं। श्री घासीलाल जी म०

संस्कृत भाषा के उद्भट विद्वान् हैं। आपने मूल आगमों पर अनेक संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं।

पूज्य श्री जवाहर लालजी म० २३ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। विक्रम सम्वत् २००० मे आपका समाधि पूर्वक स्वर्गवास हो गया। आपके बाद सम्प्रदाय का आचार्य पद श्री गणेशीलाल जी म० को मिला। श्रमण संघ का निर्माण होने पर सादडी सम्मेलन मे आपको अखिल भारतीय स्तर पर उपाचार्य पद दिया गया। आप बड़े ही साधना प्रधान संत थे। कुछ समय बाद श्रमण संघ विचार धारा से कुछ मत भेद होने के कारण आपने उपाचार्य पद से त्याग पत्र दे दिया। वर्तमान समय मे पूज्य श्री नानालाल जी म० इस परम्परा मे विराजमान हैं।

आचार्य श्री मन्नालाल जी महाराज

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९२५ में रतलाम मे हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्री अमरचन्द्र जी नागोरी और माताजी का नाम नन्दीबाई था। तेरह वर्ष की छोटी सी आयु मे ही आप संसार से विरक्त हो गये। आपने श्री रत्नचन्द्र जी म० के चरणों में दीक्षा ग्रहण की थी। वि० सं० १९७३ मे आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इन दिनों आप जम्बू (काश्मीर) में विराजमान थे, और आचार्य पद प्रदान उत्सव ब्यावर मे हुआ।

आपका आगम ज्ञान बडा ही विशाल था। प्रश्नों का उत्तर देते समय आप शास्त्रीय प्रसंग मे प्रत्येक शास्त्र का अध्ययन, उद्देशक और गाथा सहित प्रमाण देते थे। प्रश्न करने वालो को ऐसा लगता था मानो आपको सारे शास्त्र कंठस्थ हो। आपकी श्रुत ज्ञान प्रतिभा असाधारण थी। इसी लिए शास्त्र श्रद्धालु जनता

आपको "शास्त्रीय ज्ञान का समुद्र" मानती थी। संतो के विशिष्ट गुण आपमे विद्यमान थे। आपने मालवा, मेवाड, मारवाड और पंजाब आदि अनेक प्रातो मे विचरण करके जनता को धर्म ज्ञान दिया था। ५२ वर्ष तक संयम पाल कर वि० सं० १९९० मे आप ब्यावर मे स्वर्गवासी हो गए।

प्रतिवादी मानमर्दक श्री नन्दलालजी महाराज

आपका जन्म कनजेडा (मध्यभारत भूतपूर्व होल्कर स्टेट) मे वि० स० १९१२ भाद्रपद शुक्ला ६ के दिन हुआ था, आप जब दो वर्ष के थे तभी आपके पिता श्री रतनचन्द्रजी व मामा श्रीदेवीलाल जी दिवंगत होगए थे, वि सं. १९२० मे आपके बड़े भाई श्रीजवाहर लाल जी, श्री हीरालाल जी तथा आपकी धर्म निष्ठा माताजी श्री राज कु वर बाइ ने भी दीक्षा ग्रहण करली थी। आप दीक्षा मे अपने दोनो भाइयो से छोटे थे तो भी प्रभाव मे सबसे बड़े थे। शास्त्रार्थ कला मे आप निष्णात थे। प्रतिवादी लोग आपका नाम सुन कर ही घबरा जाते थे। आपने अपने जीवन काल मे अनेक शास्त्रार्थ जीते थे। वास्तव मे शास्त्रार्थों मे विजय उनकी जन्म जात बपौती थी। आप अपने समय के बड़े ही स्थित प्रज्ञ सत थे। जीवन के अन्तिम दिनो मे आप रतलाम मे स्थिरवास कर रहे थे। यही पर आपका स्वर्गवास हुआ।

आगमज्ञ श्री देवीलाल जी महाराज

आपका जन्म केरो नामक छोटे से गाव मे हुआ था। यह गाव टोक रियासत में स्थित है। आपके पिता बोरदियावशी श्री माणकचन्द्र जी थे। आपकी माताजी का नाम शृ गार बाईजी था। पिता, पुत्र और माता इन तीनो भव्यात्माओ ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की थी। उस समय आप की आयु केवल ग्यारह वर्ष

की थी। आप आगम साहित्य के विशेष मर्मज्ञ थे। ज्ञान और क्रिया में आप सदा सबसे आगे रहते थे। तेरह पथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत श्री शेषमल जी आप से शास्त्रार्थ करके अंत मे आपके शिष्य हो गये थे। यही श्री सहस्रमल जी म० आगे चलकर इस सम्प्रदाय के आचार्य पद पर आये।

शास्त्र विशारद पूज्य श्री खूबचन्द्र जी महाराज

आपका जन्मस्थान निम्बाहेडा (टोक) है। आपका जन्म वि० सं० १९३० मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री टेकचन्द्र जी और माता का नाम गेंदोबाई था। आपकी पत्नी का नाम साकर बाई था। भर यौवन मे आपने अपने प्राप्त वैभव को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की थी। आपका दीक्षा सम्वत् १९५२ माना जाता है। आपके दीक्षा गुरु त्रिपुटी के महान् सत श्री नन्दलाल जी महाराज थे। आपने सस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओ का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया था। शांति और सरलता की तो आप अप्रतिम प्रतिमा थे। आगम साहित्य के तो आप महारथी थे। वक्ता होने के साथ २ आप राजस्थानी भाषा के उच्च कोटि के कवि भी थे। आपकी रचनाओ मे वैराग्य को विशेष पुट मिलती है। पूज्य श्री मन्नालाल जी म० के स्वर्गवास के बाद आपको वि० सं १९९० में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। अपने आचार्य काल मे आपने अनेक आध्यात्मिक उन्नति के कार्य किये थे। दीर्घकाल तक विशुद्ध सयम व्रत पाल कर अंत में आपका ब्यावर मे स्वर्गवास हो गया। आप समूचे श्वे० स्थानकवासी जैन समाज की एक विरल विभूति थे।

पूज्य श्री सहस्रमलजी महाराज

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९५२ मे मेवाड़ के बरार ग्राम

में हुआ था। आपके पिता श्री हीरालाल जी बड़े ही धर्म श्रद्धालु व्यक्ति थे। श्री सहस्रमलजी ने पहिले तेरह पंथ सम्प्रदाय मे दीक्षा ली थी। इस सम्प्रदाय मे आप लगभग सात वर्ष तक रहे थे। शास्त्रमर्मज्ञ प० श्री देवीलाल जी महाराज के आगमानुकूल उपदेशो मे आपकी श्रद्धा तेरह पथ के दया दान विरोधी सिद्धान्तो मे हट गई। विक्रम सम्वत् १९७४ मे तेरह पथ का त्याग कर के आप मुनिराज श्री देवीलाल जी म० के शिष्य हो गए। पूज्य श्री खूबचन्द्र जी महाराज के स्वर्गवास के बाद आप उनके पाट पर आचार्य हुए। श्रमण संघ की एकता के लिए बाद मे आपने आचार्य पद को छोड़ दिया। आप श्रमण सघ के बड़े ही विद्वान् और सयम शील मुनिराज थे। आपका स्वर्गवास रूपनगढ (किशनगढ) मे हुआ था।

प्रसिद्धवक्ता जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज

स्थानक वासी जैन समाज के मुनिराजो मे श्री जैन दिवाकर जी महाराज का नाम बडी भारी श्रद्धा के साथ लिया जाता है। राजा महाराजो, सेठ साहूकारो से लेकर मजदूरो की झोपडियो तक आपकी कल्याण कारिणी वाणी का प्रभाव पहुँचा था। आप वक्ता होने के साथ साथ प्रसिद्ध कवि भी थे। आपकी वक्तृत्व तथा कवित्व शैली बडी ही सरल थी। इस शताब्दी मे आपने जितना प्रचार किया था उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। आपने अपने जीवन काल मे बहुत मे ग्रन्थो का निर्माण किया था। आपका प्रसिद्ध सकलन निर्ग्रन्थ प्रवचन आज सभी जैन तथा अजैन घरो मे प्रसिद्ध है। आप संगठन के पूर्ण हिमायती थे। आपके पिता श्री गगाराम जी थे। आपके माताजी का नाम श्री मती केशर बाईजी था। आपकी जन्म भूमि नीमच (मालवा) है।

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९३४ कातिक शुक्ला १३ रवि-

वार को हुआ था। विक्रम सम्वत् १९५२ फाल्गुण शु० ५ को दीक्षा व्रत लिया। विक्रम सम्वत् २००७ मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी को कोटा मे आपका स्वर्गवास हुआ।

आपके प्रचारो से प्रभावित होकर अनेक महानुभावो ने आपके चरणो मे दीक्षा व्रत स्वीकार किया था। वर्तमान काल के साधुओ में आपकी शिष्य सम्पदा सर्वाधिक मानी जाती है। आपके शिष्यो मे साहित्य प्रेमी उपाध्याय श्री प्यारचन्द्र जी महाराज का नाम विशेष प्रसिद्ध है। आपने भी अपने गुरुदेव के साहित्य सम्पादन मे विशेष योग दिया था। श्रमण संघ के मुनिराजो मे आपका एक विशिष्ट स्थान था। आप श्रमण संघ के उपाध्याय पद पर विराजमान थे। श्री दिवाकर जी महाराज के सन्तो मे ज्योतिर्विद स्थविर मुनि श्री कस्तूरचन्द जी म०, प्रवर्त्तक मुनि श्री हीरालाल जी म०, तपस्वी वक्ता मुनि श्री लाभचन्द जी म०, प्राभाविक कवि श्री केवल मुनिजी म०, अवधानी मुनि श्री अशोक मुनिजी म०, पं मुनि श्री उदय मुनिजी म० के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

श्री परशुराम जी महाराज के शिष्य श्री खेतसी जी की परम्परा मे भी अनेक विद्वान् मुनिराज हुए है। जिनके शुभ नाम क्रमश· इस प्रकार है·—श्री खेमशी जी म०, श्री फतहचन्द जी म०, श्री अनोपचन्द जी म०, श्री बलदेव जी म०, श्री चम्पालाल जी म० श्री चुन्नीलाल जी म०, श्री किशनलाल जी म०, श्री बलदेव जी म०, श्री हरिश्चन्द्र जी म० और श्री मागीलाल जी म०।

स्वर्गीय मुनि श्री राम कुमार जी, प० मुनि श्री जीवराज जी म०, तपस्वी श्री मिश्रीलाल जी म० इस परिवार मे विराजमान हैं। हाडौती, डूगर प्रात और मद्रास प्रात में आपका विशेष विचरण है।

प्रकरण आठवां

साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका

जैन धर्म मे तीर्थ का विशेष महत्व माना गया है। भारतीय परम्परा मे दो प्रकार के तीर्थ माने जाते हैं। (१) जङ्गम तीर्थ और (२) स्थावर तीर्थ। वर्तमान काल के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मूर्ति पूजक समाज स्थावर तीर्थों मे विशेष विश्वास रखते हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज स्थावर तीर्थों से आत्मिक लाभ नही मानता। उसका मूल विश्वास जगम तीर्थों मे है। तीर्थ शब्द की परिभाषा से ही यह बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है कि कौनसा तीर्थ उपयोगी है और कौनसा अनुपयोगी है? जो ससार सागर से स्वय तिरे और दूसरो की आत्माओ को तिरने की प्रेरणा दे उसे तीर्थ कहते हैं। यह प्रेरणा हमे जगम तीर्थों से ही मिल सकती है। तीर्थ चार होते है.—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक और (४) श्राविका। इन्ही चारो का सामूहिक नाम तीर्थ है। इसे आगम मे "चतुर्विध सघ" भी कहा गया है।

पिछले समय मे जितने भी तीर्थङ्कर भगवान् हुए है, केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद वे चार तीथ की स्थापना करते आये हैं। इसीलिए उनका नाम तीर्थङ्कर पडा है। अबतक जितने भी तीर्थङ्कर हुए है, सबने इस परम्परा को अपनाया है। और भविष्य मे अपनाते रहेगे।

वर्तमानकाल के अंतिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के शासन मे जहां गौतम, सुधर्मा और अभय मुनि तथा मेघ मुनि जैसे संयम साधनाशील संत थे, वहां आनन्द, कामदेव और अरणक जैसे श्रावक भी अधिक संख्या मे थे। साध्वियो मे चन्दन वाला आदि ३६ हजार श्रमणिया व श्राविकाओ मे रेवती, जयन्ती सुलसा आदि का विशेष स्थान रहा है। अपने अपने कर्त्तव्य की दृष्टि मे सभी के धार्मिक अधिकार समान थे। संघ व्यवस्था मे सबको समान अधिकार प्राप्त थे। आगम में संघ का समस्त उत्तरदायित्व आचार्य को दिया गया है। वही धार्मिक दृष्टि से सत्ता का विकेन्द्रीकरण करता है। गणतन्त्र व्यवस्था का आरम्भ हमारी गणधर परम्परा से ही हुआ है। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकाओ के व्यवस्थित जीवन के लिए संघ ने समय समय पर अनेक अभूतपूर्व काम किये है। संघ ने जहाँ सत्ता का दुरुपयोग देखा है वहां से सत्ता को वापिस भी लिया है। जब जब शासन व्यवस्था मे दोष आये है, आसंघ ने उनके सुधार के लिये अनेक उचित शास्त्रानुकूल कदम उठाये है। हमारे प्राचीन संघ मे साधुवो के साथ साथ श्रावको के भी महत्वपूर्ण कार्य रहे हैं। सोलहवी शताब्दी मे जब श्रमण परम्परा में शिथिलाचार ने पूर्ण रूप से प्रवेश पा लिया था, तब धर्म प्राण लोकाशाह जैसे कर्मठ श्रावको ने ही संघ व्यवस्था की सुरक्षा की थी।

वर्तमान काल के श्री संघ मे अनावश्यक रूप से सम्प्रदाय वाद के नाम पर जब पृथक् पृथक् टोले तथा गच्छ बनाये, मेरा गुरु और मेरा शिष्य की ममता साधुवों और श्रावको के मानस मे घुस बैठी तब वाडीलाल, मोतीलाल शाह जैसे कर्मठ श्रावको के सत्प्रयत्न से अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेस की स्थापना की गई। अजमेर के रायसाहब सेठ चाँदमल

जी की प्रमुखता मे ईस्वी सन् १९०६ की २६, २७ २८ फरवरी मे कान्फ्रेन्स का प्रथम अधिवेशन समारोह पूर्वक 'मोरबी' मे मनाया गया। इस अधिवेशन मे धर्म तथा समाज के लिए अनेक उपयोगी प्रस्ताव पास किये गये। इस अधिवेशन की बौद्धिक व्यवस्था मे श्री वा० मो० शाह का उत्साह एव काय विशेष महत्त्व का रहा था। आपके द्वारा समाज को अखिल भारतीय स्तर पर साधु-सस्था एव श्रावक सघ का विशाल परिचय प्राप्त हुआ। इसके बाद कान्फ्रेस के जो महत्त्व पूर्ण अधिवेशन हुए उनका संक्षिप्त नामाङ्कन इस प्रकार है—

द्वितीय अधिवेशन
स्थान—रतलाम
तिथि—२७-२८-२९ मार्च १९०८
प्रमुख—श्री केवलचन्द्र जी, त्रिभुवनदास जी
प्रस्ताव—शिक्षा प्रचार एवं समाज संगठन

तृतीय अधिवेशन—
स्थान—अजमेर
तिथि—१०-११-१२ मार्च १९०९
प्रमुख—सेठ बालमुकुन्द जी मूथा सतारावाले
प्रस्ताव—नवीन समाज निर्माण, स्कालरशिप व्यवस्था

चतुर्थ अधिवेशन—
स्थान—जालंधर पंजाब
तिथि—२७-२८-२९ मार्च १९१०
प्रमुख—श्री उम्मेदमल जी लोढ़ा
प्रस्ताव—जैन ट्रेनिंग कालेज की स्थापना
स्त्री शिक्षा, समाज उन्नति के प्रयत्न

पाचवा अधिवेशन—

स्थान—सिकंदराबाद
तिथि—१२-१३-१४ अप्रेल १६१३
प्रमुख—श्री लक्ष्मणदास जी, मुलतानमल जी श्रीश्रीमाल जलगाव

प्रस्ताव—पिछले प्रस्तावो को कार्य रूप मे देना आदि

इसके वाद कान्फ्रेंस की व्यवस्था मे कुछ निरुत्साह सा आ गया। पिछले वर्षों मे उत्पन्न हुआ उत्साह मन्द पड़ गया। इसके सुधार के लिए ईस्वीसन् १६२४ ता० ७-८-६ मे श्री सेठ मेघजी थोभण की अध्यक्षता में मलकापुर मे छठा अधिवेशन हुआ। श्री प्रमुख महोदय के आर्थिक सहयोग के वचन से कान्फ्रेंस का वातावरण फिर से जागृत एवं उत्साहित हो गया। इस सम्मेलन में अनेक समाजोपयोगी प्रस्ताव पारित किये गये। इसके बाद सातवा बम्बई मे आठवा बीकानेर मे और नववा अधिवेशन अजमेर में हुआ।

अजमेर का यह सम्मेलन बडा महत्त्वपूर्ण रहा। इसमे कान्फ्रेंस को श्रावको के अतिरिक्त साधु संस्था का विश्वास भी प्राप्त हो गया। इस अधिवेशन मे मुनि सघ ऐक्य समिति का निर्माण किया गया, तथा आगामी अजमेर सम्मेलन में एक वृहत् साधु सम्मेलन करने का सर्व सम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया। कान्फ्रेंस के सैकडो गण्य मान्य कार्य कर्ता 'वृहत् सम्मेलन' के पवित्र कार्य मे जुट गये। भारत के कोने कोने मे श्रावक तथा सत मुनिराजो की सेवामे आमन्त्रण समिति के द्वारा आमंत्रण भेजे गये। इस कार्य मे श्री दुर्लभजी भाई जवेरी तथा श्री धीरजलाल तुरखिया का विशेष योग दान रहा। भारत भर के वीर पुत्र संत

मुनिराज अजमेर की ओर पधारने लगे। अजमेर एकबार भारतीय जैन जनता का तीर्थ धाम बन गया।

इन दिनो भारत मे स्थानकवासी समाज की लगभग ३० सम्प्रदाये प्रचलित थी। इनमे से २६ सम्प्रदायो के प्रतिनिधि सम्मेलन मे पधारे। भारत के मुनियो की ४६३ की सख्या मे से और साध्वी समाज की ११३२ की संख्या मे से सम्मेलन मे २३८ मुनिराज और ४० महासतियाँ जी पधारी। इनमे ७६ के लगभग प्रतिनिधि मुनिराज थे। यह सम्मेलन ५ अप्रेल १६३३ ईस्वी को आरम्भ हुआ और १६-४-३३ को सफलता पूर्वक सम्पूर्ण हुआ।

अजमेर सम्मेलन का महत्त्व

मथुरा तथा वल्लभी के श्रमण सम्मेलनो के बाद अजमेर का यह बृहत् साधु सम्मेलन वर्तमान काल का प्रथम सम्मेलन था। इसमे भारत के कोने कोने से लगभग एक लाख श्रावक तथा श्राविकाएँ मुनिराजो के दर्शनार्थ एकत्रित हुई थी। स्थानकवासी समाज के लिए यह सम्मेलन किसी भी विशाल धार्मिक मेले से कम महत्त्व का नही था। जनता की इस अपार भीड भाड मे कान्फ्रेस ने बडी ही योग्यता से अपना कार्य आरम्भ किया।

आबाल वृद्ध सभी नर नारियो में एक अभूत पूर्व उत्साह था। जो मुनिराज सदियो से "टोलावाद" के कारण पृथक् पृथक् गुटो मे बटे हुए थे, आज एक मच पर आ गए। आपस के मतभेद कुछ कुछ शात हो गए। प्रत्येक साधु और श्रावक के मन मे एकता की लहर उग्र रूप से दौडने लगी। एक दूसरे के समीप आने के लिए सबके हृदय लालायित हो उठे। सभी सम्प्रदायो के लोग अन्य सभी सम्प्रदायो के साधु साध्वियों को वन्दनीय, एवं पूजनीय

मानने लगे। विचार भेद होने पर भी सब साधु संगठन के लिए पूर्ण रूप से उत्सुक थे।

काफी समय से पंजाब में जो पत्री परम्परा का संघर्ष चल रहा था, सम्मेलन मे आकर वह संघर्ष सदा के लिए समाप्त हो गया। आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने बड़े परिश्रम से एक जैन धर्म तिथि पत्रिका का निर्माण किया था। समाज का एक वर्ग उसे प्रामाणिक नही मानता था। इसी कारण पंजाब का साधु वर्ग तथा श्रावक वर्ग दो विचार धाराओ में बंट गया। अजमेर साधु सम्मेलन के निर्णय को मान्यता देकर पूज्य श्री सोहन लाल जी म० ने इस सघर्ष को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इसी प्रकार और भी अनेक विवादास्पद विषय सम्मेलन के नि स्वार्थ कार्य कर्ताओ के सत्प्रयत्नो से शात हो गए। पजाब के "अजीवपंथी" मुनिराजो का विवाद भी सम्मेलन मे आकर ही समाप्त हुआ। सम्मेलन मे अनेक मूर्धन्य मुनिराजों ने एक आचार्य को छत्र छाया मे मुनिसघ के निर्माण हेतु "वीरसंघ ऐक्य योजना" का सर्वोपयोगी प्रस्ताव भी रखा। किंतु वह अनेक प्रयत्न करने पर भी सफल न हो सका। इस प्रस्ताव का इतना फल तो अवश्य हुआ कि सभी सम्प्रदायो के साधुओ मे आपसी सद्भावना के बीज उदय हो गए। सब मे एकता की भावना जागृत हो गई।

सम्मेलन के सक्रिय सहयोग से कान्फ्रेंस के वातावरण मे एक नया उत्साह आ गया। कान्फ्रेंस समस्त श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज के लिए एक विश्वास पात्र सस्था बन गई। इसके बाद कान्फ्रेन्स का दशवा अधिवेशन घाटकोपर बम्बई में दानवीर सेठ वीरचन्द्र भाई, मेघजी थोभण की अध्यक्षता मे ईस्वी सन् १६४१ मे हुआ। इस अधिवेशन मे अनेक समाजोपयोगी प्रस्ताव

पारित किये गये। स्था० जैन समाज की पूना बोर्डिंग, स्त्री सहायता कोष, जैन धर्म शिक्षण सस्था तथा साहित्य प्रकाशन विभाग को लगभग एक लाख रुपये की सहायता के प्रस्ताव कार्यान्वित किये गये।

भारत भूषण शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी म०, आचार्य श्री काशीराम जी म० तथा प्रवर्तक श्री ताराचन्द्र जी महाराज ने घाटकोपर बम्बई मे 'वीरसघ" योजना बनाई थी, उस पर पूर्ण रूप से निश्चयात्मक विचार किया गया। साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाओ के हित के लिए पृथक् पृथक् कमेटियो का निर्माण किया गया।

सम्मेलन के अवसर पर ही अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन युवक परिषद् तथा स्था० जैन महिला परिषद् का भी उत्साहपूर्ण आयोजन किया गया। युवक परिषद् की अध्यक्षता पजाब के प्रसिद्ध समाज सेवी लाला हरजसराय जी जैन बी० ए० ने की, तथा महिला परिषद् का कार्य श्रीमती नवलबेन हेमचन्द्र भाई रामजी भाई मेहता की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

इस अधिवेशन के आठ वर्ष बाद सन् १९४९ ता० २४-२५-२६ को ग्यारहवा अधिवेशन बम्बई लेजिस्लेटिव असेम्बली के स्पीकर माननीय श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन का उद्घाटन मद्रास राज्य के मुख्य मत्री श्री कुमारस्वामी राजा ने किया था। अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष सेठ मोहन लाल जी चौरड़िया मद्रासवाले थे।

इस अधिवेशन मे लगभग १६ प्रस्ताव पास किये गये। जिनमे दिगम्बर, श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी एकता, पशु-वध बन्दी करण, तिथि-निर्णय, आगम-प्रकाशन, बाल-दीक्षा-विरोध

और श्राविकाश्रम स्थापना आदि के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों के विलीनीकरण का महा प्रयास किया गया। सभी कार्य कर्ताओं ने सक्रिय प्रयत्नो का संकल्प किया। समाज के आगेवान मुनिराजो एवं श्रावको ने इसे सफल बनाने के लिए अपने सहयोग का हार्दिक आश्वासन दिया। श्रमण वर्ग की एकता को अंतिम रूप देकर सफल बनाने के लिए बारहवा अधिवेशन सादड़ी मे करने का निश्चय किया।

सादड़ी का महासम्मेलन

यह सम्मेलन स्था० जैन समाज के लिए एक अभूत-पूर्व महान् ऐतिहासिक सम्मेलन था। इसमे भारत के अनेक भागो से लगभग ३५ हजार नर नारी आये थे। अधिवेशन की अध्यक्षता श्रीमान् सेठ चम्पालाल जी बाठिया ने की और उद्घाटन राजस्थान के मुख्य मत्री श्री टीकाराम जी पालीवाल ने किया। इस सम्मेलन मे लगभग २२ सम्प्रदायो के प्रतिनिधि मुनिराजो ने भाग लिया। सभी मे एकता की लहर दौड रही थी। सम्मेलन में उपस्थित त्यागी वर्ग ने सर्व प्रथम एक सविधान का निर्माण किया। जिसके अनुसार नव निर्मित मुनि सघ का नाम "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ" रखा गया। वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन यह सम्मेलन आरम्भ हुआ और वैशाख शुक्ला नवमी को सभी महा मुनिराजो ने अपनी पूर्व सम्प्रदायो के पदो का त्याग करके संघ प्रवेश फार्म पर हस्ताक्षर किये। आगम साहित्य के उद्भट विद्वान्, जैन धर्म दिवाकर, आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज को सर्व-सम्मति से अखिल भारतीय स्तर पर प्रधान आचार्य मान लिया गया। शास्त्र विशारद क्रियापात्र मुनिशिरोमणी श्री गणेशीलाल जी महाराज को 'उपाचार्य' नियुक्त किया गया। पूर्ण सोच विचार कर एक मुनि-मन्त्रि-मण्डल का निर्माण कर लिया

गया। व्यवस्था की दृष्टि से मंत्री-मण्डल को पृथक् पृथक् कार्य सौंप दिया गया। जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है —

१. श्री आनन्दऋषिजी महाराज	प्रायश्चित्त
श्री हस्तीमलजी महाराज	और
२ श्री सहस्रमलजी महाराज	दीक्षा
३ श्री शुक्लचन्द्रजी महाराज	
श्री किशनलालजी महाराज	सेवा
४. श्री प्यारचन्द्रजी महाराज	चातुर्मास
श्री पन्नालालजी महाराज	
५. श्री मोतीलालजी महाराज	विहार
श्री मिश्रीलालजी म० (मरुधर केशरी)	
६. श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज	आक्षेप निवारक
श्री मिश्रीलाल जी म० (मरुधरकेशरी)	
७ श्री हस्तीमल जी महाराज	साहित्य शिक्षण
श्री पुष्कर मुनि जी महाराज	
८. श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज	प्रचार
श्री फूलचन्द्र जी महाराज	

मुनि-मंत्री-मण्डल ने श्री आनन्दऋषिजी महाराज को प्रधान-मंत्री तथा श्री हस्तीमलजी म० और श्री प्यारचन्द्रजी महाराज को सहमंत्री के रूप में चुना।

कार्य व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रांतों का विभागी-करण भी किया गया।

१. अलवर, भरतपुर, युक्तप्रान्त मंत्री मुनि श्री पृथ्वीचन्द्र जी म०
२. पंजाब, जंगल प्रदेश „ „ श्री शुक्लचन्द्र जी म०

३ दिल्ली,बांगर,खादर,हरियाणा , ,, श्री प्रेमचन्द्र जी म०
४. बीकानेर, स्थलीप्रांत , ,, श्री सहस्त्रमल जी म०
५ मारवाड़, गोडवाड , ,, श्री मिश्रीमल जी म०
६. अजमेर, मेरवाड, किशनगढ , ,, श्री पन्नालाल जी म०
जयपुर टोंक माधोपुर आदि
प्रदेश
७ मध्यप्रदेश (सी. पी.) महाराष्ट्र , ,, श्री किशनलाल जी म०
८. मध्यभारत, वम्बई, ग्वालियर , ,, श्री प्यारचन्द्र जी म०
कोटा आदि
९. कर्नाटक, मद्रास, आन्ध्र, मैसूर , ,, श्री फूलचन्द्र जी म०
१०. मेवाड, पंचमहाल , ,, श्री पुष्कर मुनि जी म०
११. गुजरात, काठियावाड केन्द्र व्यवस्था

इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम-निर्माण के लिए श्रमण एव श्रावको को एक सम्मिलित समिति का गठन किया गया। जिसमे सर्व श्री कविरत्न म०, श्री अमरचन्द्रजी म०, सहमन्त्री श्री हस्तीमल जी म० पण्डित श्री श्रीमलजी म०, पण्डित श्री सुशीलकुमार जी म०, प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, डॉ. इन्द्र एम. ए, प० पूर्णचन्द्र जी दक, पं० श्रीधीरज भाई तुरखिया, और पं० श्री वदरीनारायण जी शुक्ल को लिया गया।

समाज के अनेक पौषध शाला, धर्मस्थानक आदि स्थानों के साथ उनकी अपनी अपनी सम्प्रदाय के नाम जुड़े हुए थे। इसके लिये निर्णय किया गया कि समाज को समस्त स्थावर सम्पत्ति न होकर 'वर्द्धमान स्था. जैन श्रावक संघ" की मानी जाय। जो स्थान संघ के अधिकार म न आये, उनमें साधु साध्वी न ठहरे इस निर्णय से समाज का सम्पत्ति विषयक विवाद समाप्त हो गया। धार्मिक क्रियाओं के आराधन के लिए तिथियो का विवाद

भी साम्प्रदायिक मान्यताओ का कारण बना हुआ था। इसके निबटारे के लिए उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म, प्रधानमन्त्री श्रीआनन्द ऋषीजी म, सहमन्त्री श्री हस्तीमलजी म., पं. श्री शुक्लचन्द्रजी म, प. श्री कस्तुरचन्द्रजी म., कविवर्य श्री अमर-चन्द्रजी म, मरुधर केशरी श्री मिश्रीमलजी म., तथा मुनि श्री सुशील कुमारजी म., इन मुनिराजो की एक कमेटी नियुक्त कर दी गई।

सचित्त अचित्त निर्णय समिति

क्या सचित्त है? और क्या अचित्त है? इस प्रश्न का समाधान बडा ही जटिल है। इन प्रश्नो की पृष्ठ भूमि मे अनेक साम्प्रदायिक मान्यताएँ जुडी हुई हैं। साम्प्रदायिक मान्यताओ की गुत्थिया आसानी से नही सुलझती। बिजली सचित्त है या अचित्त यह प्रश्न आज भी उसी प्रकार मुंह बाये खडा है, जैसा कि पहिले था। यह विज्ञान का युग है। इस युग के कुछ ऐसे भी प्रश्न है जिनका उत्तर केवल साम्प्रदायिक परम्परा के आधार पर ही सही नही माना जा सकता। आज का युग प्रत्येक प्रश्न के उत्तर मे प्रत्यक्ष प्रमाण मागता है। आधुनिक विज्ञान ने अनेक ऐसे प्रश्नो के सप्रमाण उत्तर भी दिये हैं। जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म होने पर भी इसके त्यागी मुनिराज वैज्ञानिक निर्णयो को स्वीकार नही करते हैं। सचित्त और अचित्त का प्रश्न भी एक वैज्ञानिक प्रश्न है। हम विज्ञान की उपेक्षा करके इन प्रश्नो का उचित समाधान न तो आज तक दे पाये हैं और न दे पायेंगे। इसके लिये हमे स्वतन्त्र रूप से जैनागमों के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना होगा। तभी भगवान् महावीर की मान्यताओं का हम ठीक प्रकार से जनता में प्रचार कर सकते हैं। सम्मेलन

मे ऐसे ही अनेक प्रश्नो पर बडो गम्भीरता से सोच विचार किया गया। अत में इनके निर्णय के लिए भी नौ मुनिराजो की एक समिति नियुक्त कर दी गई। समिति के सदस्यो की नामावली इस प्रकार है।

सर्व श्री आनन्दऋषिजी म०, श्री हस्तीमलजो म०, कवि श्री अमरचन्द्रजो म०, श्री प्रेमचन्द्रजी म०, श्री प्यारचन्द्रजो म० श्री श्रीमलजो म०, श्री मिश्रीमलजो म०, श्री सौभाग्यमलजी म० तथा श्री सुशीलकुमारजी महाराज।

श्रमण संघ मे दीक्षित होनेवाले वैरागी महानुभावों के लिए भी एक प्रस्ताव के द्वारा उद्‌घोषणा की गई कि भविष्य में दीक्षा लेनेवाले व्यक्तियो की वय, योग्यता और शिक्षण आदि का उचित निर्णय होने पर प्रधानमंत्रीश्रीजी की आज्ञा बिना किसी भी दीक्षार्थी को दीक्षा न दी जावे।

प्रस्तुत सम्मेलन और कान्फ्रेंस

सन् १९४८ से श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस श्रमण संघ के सगठन के लिए जो प्रयत्न कर रही थी, सादडी सम्मेलन मे आकर प्रयत्न सफल हो गया। समस्त जैन समाज के लिए वह दिन कितना सौभाग्य का था जब सारा मुनिसमाज अपनी अपनी साम्प्रदायिक वाडाबन्दियो को त्याग कर एकसूत्र मे गुथ गया। पूरे आठ दिन के इस पवित्र कार्य-क्रम ने सारे समाज की काया पलट करदी। आपसी मत-भेद, फूट और ईर्ष्या के जहरीले कीटाणु सदा के लिए शात हो गए। समाज का मुनि-ऐक्य का स्वप्न आज साकार हो गया। सबके हृदय मे प्रेम, एकता और श्रद्धा की परमभूत भावना व्याप्त हो गई। श्रमण संघ के प्रस्तावो

को पलवाने के लिए ५१ श्रावक सदस्यो की एक समिति निर्वाचित करदी गई। मुनि-सम्मेलन और कान्फ्रेस -अधिवेशन की समस्त कार्यवाही पूर्ण उल्लास के साथ पूर्ण हो गई।

सोजत सम्मेलन

सोजत मारवाड मे विक्रम सम्वत् २०१० मांघ कृष्णा तृतोया के दिन पुनः एक लघु सम्मेलन हुआ। इसमे अनेक प्रश्नो पर खुल कर चर्चाएँ हुई। पिछले सादडी सम्मेलन मे अपूर्ण रहे हुए अनेक विषयो पर मुनिराजो ने विचार-विमर्श किया। श्रमण-सघ मे असम्मिलित मुनिराजो के लिए इस सम्मेलन मे विशेष रूप से "मैत्री सम्बन्ध" का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। ध्वनिवर्धक-यन्त्र जैसे विवादास्पद विषयो को आगामी सम्मेलन तक के लिए छोड दिया गया। निश्चित्त निर्णय होने तक के लिए सभी विवादास्पद वस्तुओ के उपयोग का निषेध कर दिया गया। आगम-मर्मज्ञ श्री समर्थमलजी महाराज को सघ मे लाने का पूरा प्रयत्न किया गया, परन्तु विचार-भेद होने के कारण इसमें सफलता न मिल-सकी। इतना अवश्य हुआ कि उनके साथ सौहार्द पूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध की बात स्वीकार कर ली गई।

भीनासर (बीकानेर) सम्मेलन

यह सम्मेलन विक्रम सम्वत् २०१२ चैत्र कृष्णा द्वितीया को हुआ था। इसमे ५१ प्रतिनिधि मुनि, तथा १३६ अन्य मुनिराज तथा १६६ महासतियाँ जी पधारी थीं। इस सम्मेलन का वातावरण भी दर्शनीय था। बीकानेर से भीनासर-सम्मेलन के लिए मुनिराजो एव साध्वियो के विशाल जलूस का दृश्य सचमुच ही अपने रूप मे भव्य था। भगवान् महावीर के शासन के ये सैकड़ों

"धर्मवीर सैनिक" अपने साधु-गण-वेश मे शिथिलाचार तथा मत अनैक्य को एक खुली चुनौती दे रहे थे। हजारो की सख्या मे उपस्थित हुआ श्रावक तथा श्राविकाओ का जन-समुदाय जय जय कार के गगनभेदी नारो मे अपनी श्रद्धा भक्ति का परिचय दे रहा था।

अपने निश्चित समय पर सम्मेलन का कार्य आरम्भ हुआ। गरम और नरम अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई। इन चर्चाओं से श्रमण-संघ की भूमिका और भी ठोस हो गई—ध्वनिवर्द्धक यन्त्र के विषय मे एक सर्वसम्मत निर्णय स्वीकार कर लिया गया। संघ-की एकता की दृष्टि में रखकर विशेष अवस्था मे ध्वनिवर्द्धक यंत्र के लिए दण्ड-विधान लागू कर दिया गया। इस प्रस्ताव से नव-युवक समाज मे एक बार नई चेतना आ गई। प्राचीन विचार-धारा के मुनिवरो प्रति उनके मन मे दृढ आस्था जागृत हो गई। सम्मेलन मे सर्व सम्मति से व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलालजी महाराज को श्रमण संघके प्रधानमंत्री पद पर निर्वाचित किया गया और सर्वश्री आनन्दऋषिजी महाराज, कविरत्न श्री अमरचन्दजी महाराज, पण्डितराज श्री हस्तीमलजी महाराज और पण्डित श्री प्यारचन्द्रजी महाराज इन चारो महामुनियो को 'उपाध्याय' पद से विभूषित किया गया। शासन-मगल की पवित्र भावना के साथ मंगलमय-वातावरण मे यह मगलमय-सम्मेलन सम्पूर्ण हो गया।

एक बार फिर अजमेर में

अजमेर का श्रमण संघ के जीवन में एक विशेष स्थान है। विक्रम सम्वत् १९९० में यही पर सर्वप्रथम वृहद् मुनि-सम्मेलन हुवा था। इसी सम्मेलन में वर्तमान-कालीन मुनिराजो की एकता

का बीज-वपन हुवा था। यह सम्मेलन वास्तव मे संघ-ऐक्य योजना के महान् कार्य का शुभारम्भ हुवा था। ठीक १९ वर्ष के पश्चात् यह एकता का बीज विक्रम स २००९ के सादडी सम्मेलन मे 'श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ' के रूप मे विकसित हुआ। इस कल्प वृक्ष के बीज-वपन की मूल-भूमि अजमेर ही रही है। उस समय अजमेर सम्मेलन मे ७६ प्रतिनिधि मुनि, २५१ अन्यमुनि तथा ८० साध्वियो ने भाग लिया था। समाज कर्णधारो ने पूर्ण सद्भावना से "एक आचार्य परम्परा" के बीज बोया था। समय समय पर अनेक प्रान्तीय-सम्मेलनो द्वारा इस-एकता की भूमिका को प्रेम सौहार्द, तथा आध्यात्मिक भावना के जल से सीचा गया। फलत एक विशाल-सफल-सघनछाया-च्छादि महान् वृक्ष आज हमारे सन्मुख है। जिसकी छत्र छाया मे चतुर्विध सघ अपने आत्मोद्धार मे सलग्न है। उस दिन के वातावरण में कौन कल्पना कर सकता था कि एक युग से ऊसर रही हुई भूमि मे ऐसा आध्यात्मिक वसत भी लहलहा उठेगा। स्थान की दृष्टि से इस सफलता का प्रारम्भिक श्रेय अजमेर को ही प्राप्त हुवा। तब से लेकर अबतक क्रमश अजमेर सादडी, सोजत और भीनासर मे छोटे बडे ४ सम्मेलन हो चुके हैं। इन सभी सम्मेलनो ने समाज को एक नई चेतना दी है। एक नयी दिशा दी है। इस बार यह पाचवा सम्मेलन वि० स० २०२० फालगुन शुक्ल ३ के दिन फिर अजमेर मे हुवा। इससम्मेलन मे मुनिराजो ने वडी दीर्घदर्शिता से काम लिया। पूर्व के निर्वाचित-व्यवस्था मण्डल में एक नवीन सुधार किया गया। इस सम्मेलन मे ९८ संत तथा १४४ महासतियां जी उपस्थित थीं।

नवीनता ने प्राचीनता को अपना लिया

नवीनता और प्राचीनता के नामपर आये दिनो समाज मे

अनेक संघर्ष होते हैं। नवीन विचार-धारा के व्यक्ति कुछ प्राचीन परम्पराओ को अनुपयोगी मानते हैं। इधर प्राचीनता-वाद मे विश्वास रखनेवाले कहते है कि पुराण पुरुषो का आचरण ही अनुकरणीय है। नवीनता के जोश मे प्राचीनता की अवहेलना करना कोरी आत्म प्रवंचना हैं। किसी हद तक ये दोनों ही विचार धाराएँ सत्य हैं। यदि दोनो विचारो के व्यक्ति कुछ समझ मे काम ले, तो समाज का बहुत कुछ भला हो सकता है। एकान्त-वाद तो झगडे ही उत्पन्न करता है। भगवान् महावीर का मार्ग तो अनेकान्तवाद में है। संसार मे नया क्या है और पुराना क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज जो कुछ भी नवीनता दीख पड रही है, वह हमारी प्राचीनता की ही देन है। आज का नया युवक हमारे कल के वृद्ध प्राचीन पिता से ही उत्पन्न हुआ है। आज से लाखो वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज तीर्थङ्कर भगवान् ने जो कुछ तत्त्व निरूपित किये है, वे हमारे लिए सभी प्रकार मे ग्राहय है। उन पर चलना नये और पुराने सभी का कर्त्तव्य है। सभी तीर्थंकरो का उपदेश द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार एक समान होता हैं। उसमे सभी कुछ नया होता है और सभी कुछ पुराना।

प्रस्तुत सम्मेलन मे 'मंत्री' आदि आधुनिक युग शब्दो पर पूरी गम्भीरता से विचार किया गया। अत मे निश्चय हुवा कि साधुवो की व्यवस्था मे मंत्री पद न रख कर शास्त्रीय पदो का उपयोग किया जाना अत्यन्त आवश्यक तथा मुनिपरम्परा के लिए उपयोगी है। इसी निर्णय के अनुसार 'मत्री पदो' को प्रवर्तक के रूप मे वदल दिया गया। प्रवर्तक परिवार का निर्वाचन इस प्रकार हुआ :—

(१) प्रवर्तक श्री पृथ्वीचंद्रजी म०

(२) प्रवर्तक श्री पन्नालालजी म०
(३) ,, श्री सूर्यमुनिजी म०
(४) ,, श्री शुक्लचंद्रजी म०
(५) ,, श्री लक्ष्मीचन्दजी म०
(६) ,, श्री हीरालालजी म०
(७) ,, श्री मगनमुनिजी म०
(८) ,, श्री अम्बालालजी म०
(९) ,, श्री विनय ऋषिजी महाराज

पिछले सम्मेलन मे निर्वाचित उपाध्यायो मे से पं श्री प्यारचन्द्र जी म० के स्वर्गवास के कारण तथा प्रधान मत्री श्री आनन्दऋषिजी म० आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण शेष उपाध्याय-द्वय को ही शिक्षण व्यवस्था आदि के लिए उपाध्याय स्वीकार कर लिया गया।

सम्मेलन मे बडा प्रायश्चित्त तथा दीक्षा का अधिकार आचार्यश्री जी को सौंप दिया गया। इसके साथ ही प्रवर्तक परिवार को यह अधिकार दे दिया गया कि यदि व्यवस्था के लिए उन्हे उपप्रवर्तको की आवश्यकता पड़े तो वे स्वय इसका चुनाव कर सकते है। एक परामर्श-समिति का भी गठन किया गया जो समय समय पर अपने परामर्शों से सामयिक समस्याओ के समाधान मे सहयोग देती रहेगी। श्रमण सघ विधान के विपरीत आचरण करनेवाले श्रमणो के लिए भी विचार किया गया। साधु तथा साध्वियो के लिए पूर्ण सादगी बरतने का भी निर्णय किया गय।

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी म० के निर्देशन मे एक इतिहास-निर्माण-योजना-समिति का निर्माण भी किया गया। जो स्थानकवासी समाज का सप्रमाण इतिहास निर्माण

कर सके। इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्रमण-संघोपयोगी नियम उप नियमो का निर्माण किया गया।

श्रमणी सम्मेलन

भारतीय श्रमण संस्कृति मे श्रमणी-वर्ग का भी एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। धार्मिक अनुष्ठान और धर्म प्रचार मे साध्वी समाज का योगदान सदा से प्रशंसनीय रहता आया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सदा सर्वदा मे श्रमणी-वर्ग की संख्या श्रमण-वर्ग मे अधिक रहती आई है। भारत का स्त्री-समाज धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों मे हमेशा पुरुषों के कंधो से कधा मिला कर चलता आया है। भगवान् महावीर के शासन मे भी जहा साधु-पुरुषो की संख्या चौदह हजार थी, उस समय साध्वी समाज की संख्या छत्तीस हजार थी। इससे स्पष्ट है कि साध्वियां अपने कर्तव्य-पालन मे कभी भी पीछे नही रही है। इतना होने पर भी श्रमणी-वर्ग का पूर्वकालीन इतिहास अभी तक अन्धकार मे ही पड़ा है, यह बड़े ही दुख की बात है। श्रमण वर्ग ने अपने इतिहास के साथ २ यदि श्रमणियो का इतिहास भी सुरक्षित रखा होता तो आज इस बात के कहने की आवश्यकता न पड़ती। महासती श्री चन्दन बाला जी के बाद कुछ समय तक का श्रमणी इतिहास क्रम-बद्ध मिलता है। आगे चलकर इस धारा का कही भी क्रमिक उल्लेख नही मिलता। प्राचीन इतिहास-से इतना तो स्पष्ट हैं कि पूर्व काल मे श्रमणो के समान ही श्रमणी वर्ग का भी सुदृढ संगठन था। भले ही उनकी सत्ता श्रमण वर्ग के हाथो मे केन्द्रित रही हो। आज उनके इतिहास को प्रकाश मे लाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

अजमेर के इस सम्मेलन मे श्रमणी-संगठन के विचार पर भी

बडी ही तत्परता से विचार किया गया। आर्या चन्दन-बाला के आदर्श को पुन. स्थापित करने का महान् विचार सबको अच्छा लगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए फाल्गुन शुक्ला तृतीया को मुनि-सम्मेलन के अवसर पर "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन चन्दनबाला श्रमणी संघ" की स्थापना का शुभ संकल्प किया गया। यह सकल्प अपने रूप मे बडा ही महत्त्व-पूर्ण था। इस संकल्प के पीछे कोई अधिकार-लिप्सा नही थी। केवल श्रमणी-जीवन के सुव्यस्थित संगठन का ही पवित्र विचार था।

यह संघ' निर्माण का कार्य ९० महासतियो के सामूहिक आयं बिल तप के साथ अनुमानतः १४४ महासतियो की उपस्थिति मे नौ 'बाल ब्रह्मचारिणी महासतियो के द्वारा "सेवो सिद्ध सदा जयकार" इस प्रार्थना से आरम्भ किया गया। श्रमणी-वर्ग ने अपनी पूर्व-परम्परा के अनुसार अपने समस्त अधिकार आचार्य श्री जी की सेवा मे सौंप दिये। नव निर्वाचित श्रमणी संघ ने एक जैन धर्म प्रचारिणी समिति का गठन कर लिया। इस सम्मति की मुख्यनेत्री विदुषी श्री सुमतिकुंवर जी म० सर्व सम्मति से स्वीकार कर ली गई। साध्वी-समाज के अध्ययन-अध्यापन-आचार विचार सम्बंधी और अनेक महत्व पूर्ण धाराएं निश्चित की गई। श्राविका-ममाज को संगठित करने के लिए "महिला मण्डल" की योजना स्वीकार की गई।

इस श्रमणी संघ की स्थापना बाल ब्रह्मचारिणी, वयोवृद्धा श्री सोहन कुंवर जी म० स्थविरा श्री बालकुंवर जी म० बा० ब्र० श्री नन्दा जी म०, बा० ब्र० उमरावकुंवर जी म० और स्थविरा श्री सौभाग कुंवर जी म० के नेतृत्व में कार्यान्वित की गई। जैन धर्म प्रचारिणी समिति मे २१ महासतियो को प्रतिनिधि

के रूप मे चुना गया। साध्वी समाज की उन्नति के लिए कुल मिला कर १७ प्रस्ताव पारित किये गए। सबसे बड़ी विशेषता की बात यह थी कि प्रत्येक प्रस्ताव सवनुमति से सहर्ष स्वीकार किया गया। सभी साध्वियो ने आचार्य श्री जी, उपाध्याय तथा प्रवर्तक वर्ग की आज्ञा तथा अनुमति से अपने कार्य को चलाने का दृढ सकल्प किया।

इस प्रकार आत्म कल्याण के शुभ संकल्पो के साथ यह अपने सम्मेलन सानन्द सफल हो गया। मुनिराजो ने अपनी अपनी इच्छित दिशाओ की ओर सुख समाधिपूर्वक विहार कर दिए।

